CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant 2.

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

आत्मबोध

प्रवक्ता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

वाराणसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१०१

आत्मबोध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला ९१—

आत्मबोध

प्रवक्ता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी

महाराज आचार्य महामण्डलेश्वर

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

वाराणसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

-: प्रकाशक :-
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
डी. ४९/९, मिश्रपोखरा
वाराणसी-२२१०१०
web.wwwdakshinamurtimathaprakashan.org

❐

प्रथम संस्करण

शंकराब्द	: १२२९
विक्रमाब्द	: २०७४
ईस्वी	: २०१७

❐

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन
कार्तिक-कृष्ण-द्वितीया संवत् २०७४
श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज
की नौवीं पुण्यतिथि पर निःशुल्क वितरित

❐

मुद्रक
श्रीजी प्रिण्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी
ई-मेल : shrijeeprint@gmail.com

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ॐ

प्रकाशकीय

भगवान् भाष्यकार आचार्य श्रीशंकर अबोध से लेकर सुप्रबुद्ध अध्येताओं के प्रबोधनार्थ ग्रन्थरचना में सिद्धहस्त उपदेशक रहे। लगभग कुछ न समझने वाला साधक भी उनकी अनेक रचनाओं से प्रेरणा और प्रकाश पाकर कृतार्थ होता है तो दिग्गज षट्शास्त्री भी उनकी कृतियों को समझने के प्रयास से स्वयं को धन्य समझते हैं। साक्षात् शिवस्वरूप आचार्य की असीम करुणा का प्रवाह ही ऐसे सुबोध प्रकरणों के रूप में उपलब्ध है जिससे आज तक का जनसामान्य श्रेय के पथ को प्रशस्त करने में सक्षम होता है। ऐसा ही एक ग्रन्थरत्न है **'आत्मबोध'**। आत्मा का यथार्थ स्वरूप अनावृत कर देने के उद्देश्य से रचे इस प्रकरण में पारिभाषिक विश्लेषणों से दूर रहकर तत्त्व यों व्यक्त किया है कि प्रत्येक मुमुक्षु इसके अनुसन्धान से निज स्वरूप को स्पष्ट अनुभव कर सकता है। इस ग्रन्थ का महत्त्व इससे भी प्रकट है कि आचार्य पद्मपाद ने इस पर 'वेदान्तसार'-नामक टीका रची। जैसी भाष्यकार ने यहाँ शैली अपनायी वैसी ही पञ्चपादिकाकार ने भी अत: ग्रन्थ बगैर किसी उलझन के समझ पाना सम्भव हुआ है।

सम्प्रदाय-परम्परा से सुना-समझा शास्त्र ही हितकर हो सकता है। अपनी मति के भरोसे आचार्य-वचनों के गूढ अभिप्राय समझना सम्भव भी नहीं और कदाचित् प्रयास करें तो गलत भी समझना असम्भव नहीं। यद्यपि टीका से पर्याप्त सहारा मिलता है तथापि उसका भी सही अर्थ जानने की सामर्थ्य सुलभ नहीं। इस परिस्थिति में तत्त्वनिष्ठ विद्वानों के व्याख्यानों का अवलम्ब अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। पिछली सदी में अनेक वेदान्ताचार्य शास्त्र-ग्रन्थों पर लोकभाषा में व्याख्यान देते रहे जिससे असंख्य साधकों ने लाभ उठाया। उनके अनेक प्रवचन अभी भी सुनने योग्य रूप में उपलब्ध हैं एवं अनेक ग्रंथाकार में पढ़े जा सकते हैं। टीकारूप में लिखे ग्रन्थ कठिन होते हैं पर व्याख्यानरूप से व्यक्त किये जाने पर सरल हो जाते हैं। इनके अनुसन्धान-पूर्वक मूलग्रन्थ पर चिन्तन करना सार्थक हो जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आचार्य महामण्डंलेश्वर **श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज** ने अनेक प्रकरणों पर प्रवचन किये थे जिनमें कुछ पुरे या अधूरे संगृहीत हुए। **सन् १९८३ अप्रैल** मास में **श्री विश्वनाथ संन्यास आश्रम, दिल्ली**, में उन्होंने 'आत्मबोध' पर व्याख्यान दिये जिन्हें पण्डित भगीरथ पाण्डेय जी ने तत्काल यथासम्भव लिपिबद्ध किया। किन्हीं कारणों से श्लोक तीन से इकतालीस तक के एवं श्लोक छियाछठ से अड़सठ तक के प्रवचनों की प्रतिलिपि उपलब्ध नहीं हुई। जो व्याख्यान मिले उनके साथ बाकी मूल श्लोकों का अनुवाद और संक्षिप्त व्याख्यान जोड़कर ग्रन्थ पूरा किया गया है। आशा है इसके अध्ययन एवं विचार से सभी साधक लाभ ले सकेंगे।

आज तक महाराजश्री की पुण्यतिथि पर उनके किसी-न-किसी अप्रकाशित व्याख्यान के प्रकाशन का क्रम चल रहा है, तदनुसार यह ग्रन्थ भी प्रकट किया जा रहा है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषय-सूची

	श्लो.सं.
ग्रन्थ-प्रतिज्ञा	१
ज्ञान ही साधन है	२-३
मोक्ष सिद्ध है	४
तत्त्वज्ञान से भी द्वैत नहीं	५
संसार-मिथ्यात्व	६-९
आत्मा की उपाधियाँ	१०-१४
विवेक	१५-१८
देहादि में चैतन्यभ्रम	१९-२१
रागादि आत्मगुण नहीं	२२-२३
'जानता हूँ' का उपपादन	२४-२५
भ्रम से भय	२६
आत्मा प्रकाश्य नहीं	२७-२८
आत्मबोध का उपाय	२९-३०
मनन का ढंग	३१-३५
निष्कर्ष	३६
अनुसन्धान में आवश्यक साधन	३७
एकत्व-भावना	३८-४०
ज्ञान-ज्वाला	४१-४२
प्राप्त की प्राप्ति	४३-४४
'मैं, मेरा' का बाध	४५-४६
आत्मा सर्वरूप	४७
जीवन्मुक्त	४८-५१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विदेहभाव	५२
ब्रह्म की परमता	५३-५४
ब्रह्मस्वरूप	५५-५६
ब्रह्म ही पूर्ण आनन्द	५७
आत्मा ही प्रिय	५८
ब्रह्म-अवधारण	५९-६०
स्वप्रकाश	६१
व्यापकता	६२
ब्रह्मभिन्न कुछ नहीं	६३-६४
ज्ञानचक्षु-अज्ञानचक्षु	६५-६६
बोधभानु	६७
ग्रन्थ-समापन	६८

●

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ॐ

आत्मबोध

तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम्।
मुमुक्षूणामपेक्ष्योऽयम् आत्मबोधो विधीयते ॥१॥

तपस्याओं से जिनके पाप क्षीण हो चुके उन शान्त वीतरागी मुमुक्षुओं की अपेक्षा से इस आत्मबोध का विधान किया जा रहा है।

आत्मबोध वेदान्तदर्शन का एक प्रकरण ग्रन्थ स्वयं आचार्य शङ्कर द्वारा विरचित है। 'शास्त्रैकदेशसम्बद्धम्' आदि परिपाटी के अनुसार, समूचे शास्त्र के अर्थ का वर्णन करने के बजाय जो शास्त्र के चुने प्रसंगों को सुस्पष्ट करने के उद्देश्य से रचा जाये वह प्रकरण ग्रन्थ कहलाता है। ऐसे अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं पर जो स्वयं आचार्य ने रचे और उन पर उनके शिष्यों ने व्याख्यान किया ऐसे कुछ ही प्रधान हैं जैसे आत्मबोध और पञ्चीकरण। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र भी ऐसा ही है और आनन्दगिरि टीकाओं की दृष्टि से कुछ अन्य भी प्रमुख हैं जैसे उपदेश-साहस्री। श्रेष्ठ आचार्यों द्वारा व्याख्यातों में अपरोक्षानुभूति और दशश्लोकी प्रमुख हैं। साधकों के हित में इस प्रकार के ग्रन्थों का अध्ययन है क्योंकि साधनों का परिचय और सिद्धान्त का स्पष्ट उपस्थापन ही इनमें उपलब्ध है।

दक्षिण भारत में, आन्ध्रप्रदेश में भगवान् नृसिंह के एक मन्दिर के पुजारी का लड़का था विष्णुशर्मा। बचपन में ही उसे विचार आता था 'मैं क्यों पैदा हुआ?' उठते-बैठते यही सोचता। पढ़ने लगा, मन्दिर में पिता की पूजा में मदद करने लगा, वेदपाठ भी करता था पर अपने जन्म के उद्देश्य की जिज्ञासा बनी रहती थी। देखता-समझता था कि मृत्यु सबकी निश्चित है पर मरकर जाना पड़ेगा, लौटकर कहीं फिर पैदा होना पड़ेगा, इस लगातार चलते क्रम का प्रयोजन क्या? इसी जन्म में करने क्या आया? यदि जन्म लेने का उद्देश्य पूर्ण कर चुका होता तो यह जन्म ही न लेता अतः निश्चय ही जिस उद्देश्य से यहाँ आते हैं वह अब तक के जन्मों में पूरा कर नहीं सके। रोगी निदान-उपचार के लिये चिकित्सक के पास जाता है, एक ही चिकित्सक से रोग दूर हो जाये तो फिर-फिर अन्यों के पास नहीं भटकता लेकिन एक से न दूर हो सके तो दूसरे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के पास जाता है और नीरोग होने तक डाक्टरों के पास जाता रहता है। उद्देश्य रोग मिटाना है, डाक्टर के पास जाना नहीं। इसी तरह दोबारा, तिबारा जन्म लेना ही बताता है कि जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। विष्णुशर्मा की जीवन के उद्देश्य की जिज्ञासा तीव्रतर होती गयी। पिता से पूछा तो उन्होंने कहा 'शादी करो, बच्चे पैदा करो, यही जीवन की पूर्णता है।' अपने विवेकपूर्ण विचार पिता से कहे तो जवाब मिले 'ये बेकार बातें हैं! ऐसा ही चला आया है। सभी यही सब करते हैं। सत्कर्म करेंगे तो स्वर्ग वैकुण्ठ आदि मिल जायेंगे। यही प्रयोजन है।' बालक सोचे कि जाकर भी लौटना ही पड़ा तो चक्कर व्यर्थ ही रहा और पुण्य क्षीण होने पर लौटना पड़ता ही है। धर्म से स्वर्गादि चाहे मिलें पर फिर वापिस आना है तो वहाँ जाना जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकता, अन्यथा उद्देश्य पूरा होने पर जीवन न लेना पड़ता। यहीं धन कमाना भी उद्देश्य नहीं, धन तो आता ही जाने के लिये है! कैसे जाये, इसमें हमारी कुछ स्वतन्त्रता भले ही हो पर जाने से रुकेगा नहीं। सात्त्विक हो तो दान करोगे, राजस हो तो भोग करोगे। बिना धन खर्च किये न दान होगा, न भोग होगा। भोग-साधनों के लिये एवं दानादि धर्म सम्पन्न करने के लिये ही धन आवश्यक है, स्वयं तो उद्देश्य नहीं है। काम्यमान पदार्थ भी सुख देकर समाप्त ही हो जाते हैं, वे भी जाने के लिये ही आते हैं! धर्म-अर्थ-काम तीनों ही उद्देश्य नहीं प्रतीत होते – यह उसे निश्चय होता गया। संसार-चक्र की इस नैसर्गिक गति से उसका स्वच्छ मन असन्तुष्ट बना रहा। साधारण सहृदय दयालु मनुष्य भी अनावश्यक दुःख किसी को नहीं देता, परमेश्वर ने करुणामय, दयामूर्ति होकर बिना मतलब जीव के आने-जाने के लिये संसार-चक्र बनाया हो यह विष्णु शर्मा स्वीकार न पाया। उसने आर्ति व जिज्ञासा से भगवान् नृसिंह से इस रहस्य को प्रकट करने की प्रार्थना की। ध्रुव, प्रह्लाद जैसे बालकों की निर्मल मन से की प्रार्थना पर भगवान् शीघ्र कदम उठाते ही हैं!

धुली सलेट पर पुराने अक्षर मिट चुकने से नये लिखे अक्षर साफ दीखते हैं। शरीर छोड़ते ही दिमाग भी मानो धुल जाता है। संस्कार रहेंगे मन में जो साथ जायेगा लेकिन मन काम जिस दिमाग (भेजे) में करेगा वह अगले शरीर में नया, साफ मिलेगा। मन दिमाग नहीं, पर मन को प्रभावी होने के लिये दिमाग काम में लेना पड़ता है। नये जन्म में धुली या नयी सलेट-सा दिमाग स्वच्छ मिलता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है तो मन वहाँ अत्यधिक कार्य कर पाता है। जो संस्कार मन में दृढ रहते हैं तदनुसार नये दिमाग से काम लेने लगता है, जो दिमाग पर पड़े संस्कार, अभ्यास, प्रशिक्षण थे, उन पर निर्भरता समाप्त हो चुकी, अब नये दिमाग में जो निहित होगा तदनुसार मन नये कार्य करेगा। अदृढ संस्कार नये जन्म में स्मृति उत्पन्न करेंगे भी नहीं, दिमाग उनके अनुकूल न ढला तो यावज्जीवन वे याद न आ सकेंगे। सत्संग सुनते समय याद रहता है, शाम तक ही भुला जाता है, सांसारिक व्यवहार दसियों वर्षों तक स्पष्ट स्मरण रह जाता है। चालीस साल बाद भी याद रहता है कि बँटवारे में कितना धन मिला था या शादी में कितनी साड़ियाँ मिली थीं। याद करने की, रखने की शक्ति तो है लेकिन दिमाग में सत्संग-संस्कार कम हैं तो उस संदर्भ में शक्ति काम नहीं करती, डाल लेंगे तो कर भी लेगी। यदि मन सत्संग-संस्कार दृढ़ लाया होगा तो स्वभाव से इस जन्म में दिमाग पर वैसे संस्कार ज़्यादा डलवायेगा, अन्यथा यही कार्य हठात् करना पड़ेगा; परिवेश आदि वशात् दिमाग में सत्संग-संस्कार ज़्यादा पड़ गये तो मन भी उस दिशा में कार्य कर लेगा। संस्कार सभी स्रोतों से पड़ते हैं, संस्कारों को ग्रहण करने के लिये मन व दिमाग तैयार हैं। संसार के संस्कारों के असंख्य स्रोत लगातार मन-दिमाग पर चोट कर रहे हैं अतः संसार-विषयक संस्कार ग्रहण करना अतिसरल, स्वाभाविक है, सत्संग के संस्कारों के स्रोत भी कम और स्वतः आकर मन-दिमाग पर चोट करते नहीं कि सहजता से वे संस्कार मिलें। सत्संग-संस्कार तो डटकर घोटना पड़ता है।

शिवाजी के गुरु रामदास का विवाह होते समय अग्नि जलने पर पुरोहित ने कहा 'सावधान हो जाओ'। रामदास के मन में प्रश्न उठा—ऐसा क्यों कह रहे हैं? अगर विवाह स्वाभाविक ही प्रक्रिया है तो इसमें सावधानी की क्या ज़रूरत? क्या यह वास्तव में जीवन का उद्देश्य है? वे सचमुच सावधान होकर सोचने लगे। पूर्व जन्म के परमार्थ-संस्कार उद्बुद्ध हो गये, मण्डप से ही उठकर चल दिये। रजोगुण-तमोगुण के संस्कार बढ़ने के बाद न यों विवेक होता है, न सही दिशा में विचारपूर्वक निर्णय लिया जाता है।

विष्णु शर्मा शुद्धमना था ही, जिज्ञासा तीव्र थी, संसार के संस्कार अभी पड़ नहीं पाये थे। उम्र बढ़ने पर तो संसार की ओर भावना-प्रवाह स्वाभाविक हो जाता है। लोग बेटे से ज़्यादा पोते पर मोह उड़ेलते हैं, ममता में बढ़ोतरी हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाती है। उस अवस्था में भी अन्तर्यामी प्रेरणा अवश्य देता है, लेकिन कई बार लिखी सलेट पर लिखे अक्षर की तरह वह प्रेरणा साफ पहचान में नहीं आ पाती। उस बालक पर भगवान् नृसिंह ने कृपा की, उससे कहा—'उद्देश्य पूरा करना है तो काशी जाओ। वहाँ मणिकर्णिका घाट पर एक महात्मा हैं। भगवान् शंकर ही महात्मा-रूप लेकर उपस्थित हैं। वे तुम्हें जीवन का उद्देश्य बता देंगे।' परमात्म-प्राप्ति दुर्लभ नहीं यदि उसके लिये तड़पन हो। पचीस साल के जवान पुत्र की अचानक मृत्यु की खबर मिले तो क्या हाथ में लिया कौर भी खा पाओगे? परमेश्वर-वियोग की व्याकुलतापूर्वक संसार से हार्दिक विमुखता हो तभी मन अन्तर्मुख होकर परमात्मदर्शन पायेगा। अनादि काल से हम स्वयं को परमेश्वर से दूर समझ रहे हैं जबकि क्षणभर को भी वह किञ्चित् भी दूर नहीं है।

विष्णु शर्मा ने गृहत्याग कर दिया, काशी चला गया। मणिकर्णिका पर देखा कि दिव्य आभा से देदीप्यमान एक संन्यासी ब्रह्मसूत्रों का अध्यापन कर रहे हैं। कार्य-कारण में अभेद की चर्चा हो रही थी। कार्यरूप गहना अपने कारणरूप सोने से भिन्न, पृथक् नहीं। गहने के नाम-रूप छोड़ते ही सत्य सोना बना रहता है। जगत् के भी नाम-रूप को हटाते ही वस्तुतः सद् ब्रह्म ही है। नाम-रूप याद रहते गहने की तरह ही संसार ही, परमार्थतः तो 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्', जगत् की सच्चाई ब्रह्म ही है। पाठ पूरा होने पर संन्यासी विष्णु शर्मा की ओर उन्मुख हुआ। सत्पुरुष को अधिकारी का मन वैसे ही सुस्पष्ट दीखता है जैसे हमें काँच की अल्मारी में रखा रसगुल्ला! देखते ही महात्मा समझ गये कि पात्र योग्य है। भेजने वाला, जिसे भेजा, जिसके पास भेजा, ये सब अलग नहीं हैं। भेजने वाले का मुँह शेर का पर हृदय मेमने का था! द्वैतवाद का हृदय क्रूर है, मुख कोमल है; तात्कालिक सुविधा देता है लेकिन जन्म-मरण के चक्र से छूटने नहीं देता। अद्वैतवाद का हृदय कोमल है, बन्धन से छुड़ाने को उतावला है, इसी के लिये मुँह क्रूर है, विवेक-वैराग्यादि से बन्धन को चबा जाता है! कर्मकाण्डी-उपासनाकाण्डी किसी-न-किसी कर्मफल के चक्कर में ही फँसाये रखने वाले हैं, सब चक्करों से बाहर निकालने के लिये सत्य वेदान्त ही बताता है 'तू ही ब्रह्म है!' मैले काँच में देख मुँह को मलिन मान बैठें, धोने-सँवारने लगें तो निरर्थक है क्योंकि मैल मुँह पर नहीं, काँच पर है, काँच में देखना छोड़ दें तो मुखमालिन्य का वहम दूर रहे! इसी तरह मनोवृत्तियों से स्वयं को एकमेक कर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुभव करने से संसार-ग्रस्त खुद को पाते हैं जबकि खुद सदा मुक्त ही हैं, संसार के आकार की मनोवृत्तियाँ ही हैं। मन सात्त्विक वृत्ति बनाये तब हम सुधरें ऐसा भी नहीं। हम सदा पवित्र, असंग हैं। कुछ करने से नहीं, नित्य ही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप हैं। विवेक दृढ चाहिये, तभी यह वस्तुस्थिति ग्रहण होती और स्थिर रहती है।

विष्णु शर्मा ने निवेदन किया 'जीवन का उद्देश्य जानना और पूरा करना चाहता हूँ। ब्रह्मसूत्र तो अतिविस्तृत हैं, संक्षेप में समझाइये।' आचार्य बोले—'जीवन का उद्देश्य जो परमार्थ सत्य उसे ही सीधे समझाने वाले हैं प्रकरण ग्रन्थ।' शास्त्र में सांगोपांग वर्णन होता है, प्रकरणों में मुख्य विषयों पर स्पष्टीकरण मिलता है। जो शुद्धचेता जिज्ञासु नहीं वरन् किसी-न-किसी वाद की व्यवस्था में उलझा है, उसे सिद्धान्त समझाना, सिद्धान्त ही प्रमाण-युक्ति के अनुकूल है, यह हृदयंगम कराना शास्त्र से ही सम्भव है। वादी अर्थात् दर्शन आदि की मर्यादाओं में बँधकर ही सोच-समझ सकने वाला, उसके लिये विशेष युक्ति-पद्धति चाहिये अन्यथा वह ग्रहण ही नहीं कर सकता। जो किन्हीं पूर्वाग्रहों से ग्रस्त नहीं, जो समझाया जाये उसे श्रद्धा से ग्रहण कर पाता है, उसके लिये शास्त्र अनिवार्य नहीं, आत्मबोध–जैसे प्रकरणों द्वारा वह वास्तविकता समझ लेता है। जो हथियार रूस-अमेरिका आपसी युद्ध में काम लेंगे, अफगानिस्तान को नियन्त्रित करने के लिये उनकी ज़रूरत ही नहीं पड़ती, हल्के हथियार काफी हैं। वादी की शंकाएँ शास्त्र से ही मिटेंगी, निर्मल अन्तःकरण वाले जिज्ञासु शिष्य को निःसन्दिग्ध तत्त्वानुभूति प्रकरणों से हो जायेगी। विष्णु शर्मा ने अध्ययन शुरू किया, विवेक-वैराग्य बढ़ने पर संन्यासी बना, पद्मपाद नाम पाया। उद्भट विद्वत्ता विकसित हुई, शास्त्र पर पञ्चपादिका नामक व्याख्या रची। प्रकरणद्वारा तत्त्वप्रवेश याद कर उन्हीं ने आत्मबोध पर टीका भी लिखी।

आत्मबोध के प्रथम श्लोक में ही साफ कर दिया कि कैसे अधिकारी को सामने रखकर ग्रन्थ प्रणीत है। जो तप द्वारा अपने पाप क्षीण कर पाये वही वेदान्तों द्वारा प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व समझने में सक्षम होता है। जो शुभ कर्मों से, सदाचार से ही घबरा जाये ऐसे पलायनवादी से आत्मसाक्षात्कार होना संभव नहीं। पूजा-पाठ ही नहीं, समूचा राष्ट्र भी संचालित करने में शास्त्र की मर्यादाओं के पालन के प्रति सोत्साह तत्पर रहने वाला ही अध्यात्म मार्ग का योग्य पथिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। तीव्रतम क्रिया के दौरान अपनी निष्क्रियता पर दृष्टि रखने की क्षमता वेदान्त-साधना विकसित करती है। शरीर-मन की निष्क्रियता पर 'अपनी' निष्क्रियता समझना भ्रम ही है, वे सक्रिय रहें तब भी अपनी निष्क्रियता भासती रहे यह तत्त्वज्ञान है। आत्मज्ञान तपस्वी ही पा सकता है, आलसी, पराश्रित नहीं। भगवान् भाष्यकार ने आत्मबोध के प्रारंभ में नमनादिरूप मंगलाचरण नहीं किया, जिसके बोध का विधान है उस आत्मतत्त्व का स्मरण ही परममंगल यहाँ किया गया। परमार्थ को जानने की तीव्र लालसा से ही साधारण नियमों से व्यक्ति बँधा नहीं रह जाता। भगवान् कहते हैं 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते', 'आत्मतत्त्व ही जानना चाहता हूँ, अन्य कुछ किसी महत्त्व का नहीं' इस निश्चय वाला वेद से भी परे हो जाता है! जिज्ञासा का इससे ज्यादा क्या महत्त्व कहा जाये?॥१॥

धर्म-अर्थ-काम के साधन साधक का उपकार करते ही हैं। बेलन-चकला-रोटी-पानी आदि सभी का साधक पर उपकार रहता है। धर्म उसमें तीव्र मुमुक्षा, मोक्ष पाने की अभिलाषा उत्पन्न करेगा। धर्मादि सभी मोक्ष के भी लिये साधारण कारण हैं ही। साधारण कारण चाहिये पर फल तो विशेष कारण ही देता है। भूख मिटाने का विशेष कारण आटा है। खाने में, पचाने में सुविधा के लिये उसे रोटीरूप में खाते हैं। रोटी बनाने में सुविधा के लिये बेलन-चकला-परात बटोरते हैं। इसी तरह मोक्ष के लिये विशेष अर्थात् प्रधान कारण ज्ञान को बताते हैं—

बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षाद् मोक्षैकसाधनम्।
पाकस्य वह्निवज्ज्ञानं विना मोक्षो न सिद्ध्यति॥२॥

ज्ञान भले हि अन्य साधनों से होने पर भी मोक्ष का एकमात्र अव्यवहित साधन ज्ञान ही है जिसके बिना मोक्ष नहीं मिलता जैसे आग के बिना भोजनादि पकाना सम्भव नहीं होता।

अज्ञान का निवर्त्तक, उसे सर्वथा समाप्त करने वाला प्रमुख कारण तत्त्वज्ञान है। स्थूल-सूक्ष्म शरीर जो हमें प्रत्यक्ष बंधन प्रतीत होते हैं, वे दोनों अज्ञान के ही परिवर्तित रूप हैं, उसी की गुण-भेदमूलक अभिव्यक्ति है। मोटर कार का बाहरी ढाँचा ('चेसिस') और उसके भीतर का यन्त्र ('इन्जन') मिलकर व्यवस्थित क्रिया करते हैं तो जैसे गाड़ी चलती है, इसी तरह स्थूल शरीर में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यवस्थित सूक्ष्म शरीर मिलकर कार्य करें तब जीव क्रिया या भोग करता है। सूक्ष्म शरीररूप भोगसाधन और स्थूल शरीररूप भोगायतन, इनका सम्मिलित रूप ही कर्म या भोग सम्भव करता है। ये दोनों शरीर जिसमें लीन होते हैं, फिर जिससे प्रकट होते हैं वह कारण कहलाता शरीर अज्ञान ही है। रोज़ गहरी नींद में जाने पर ये शरीर नहीं रहते, जगते ही आ जाते हैं अतः अवश्य इनका कारण है क्योंकि कार्य का लय और जन्म अपने कारण से ही सम्भव है। जैसे कोई पौधा जड़ से न उखाड़ो, काट भले ही दो, वह फिर उग आयेगा वैसे अज्ञान मिटाये बिना स्थूल-शरीर फिर-फिर बनते रहते हैं। उपनिषदों से अतिरिक्त मत-मतान्तर मूल कारण के निवारण की न सोचकर स्थूल-सूक्ष्म स्तरों पर ही प्रयास करते हैं दुःख हटाने का, सुख पाने का, अतः उनके साधन सीमित फल ही उत्पन्न कर पाते हैं। कर्मकाण्डी स्थूल स्तर पर महत्त्व देता है, उपासनाकाण्डी सूक्ष्म स्तर पर, योगी दोनों सँभालने की कोशिश करता है। कारण रहने तक ये सब प्रयास अस्थायी प्रभाव वाले हैं क्योंकि पुनः पुनः इन शरीरों का, इनमें विकारों का उद्भव होगा। शरीरद्वय को जड़-मूल से उखाड़ने के लिये अज्ञान ही समाप्त करना अनिवार्य है। भगवान् भाष्यकार ने विष्णुशर्मा को कारण-शरीर नष्ट करने का निर्देश दिया, इसका उपाय बताया, जिससे वह कृतार्थ हुआ।

कार्य-कारणभाव की परीक्षा दार्शनिकों ने की है, इस के निर्णय पर लोक-व्यवहार और मोक्षोपाय दोनों निर्भर हैं। वेदान्त दर्शन की सोच ब्रह्मसूत्रों के आरम्भणाधिकरण में (२.१.६.१४-२०) मिलती है। वहीं सूत्र है 'भावे चोपलब्धः' (सू.१५) कि कारण रहते ही कार्य मिलता है, न रहते नहीं मिलता, इसलिये कारण से स्वतन्त्र कोई अन्य वस्तु कार्य नहीं हो सकती। सोना रहते गहना है, सोना ही न रहे तो गहना नहीं है अतः सोने से गहना अलग नहीं। दण्ड-चाक-कुम्हार आदि घड़े के कारण होने पर भी उनके न रहने से घड़े के अस्तित्व पर असर नहीं, किन्तु मिट्टी न रहने से असर है ही। इसलिये अनन्यता उपादान-उपादेय की है, निमित्त, सहकारियों की कार्य से अनन्यता नहीं। कपड़े की मिल जल गयी तो भी तुम्हारे घर पड़ा उस मिल में बना कपड़ा नष्ट नहीं होगा। धागा जले तभी कपड़ा समाप्त होता है, अतः धागे से कपड़ा अनन्य है। धागों के अलावा जो कारण वे निमित्त, सहकारी कहलाते हैं, ज़रूरी हैं पर कार्य उनसे अनन्य नहीं। इसे समझाते हुए आचार्य शंकर कहते हैं 'तद्भावानुरक्तां हि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बुद्धिं कार्यकारणयोः अनन्यत्वे हेतुं वयं वदामः।' जिसकी सत्ता और अनुभूति रहते कार्य की सत्ता व अनुभूति संभव उसी से कार्य अनन्य है, बाकी कारणों से नहीं। कारण के अस्तित्व से भी उसकी अनुभूति अधिक महत्त्व रखती है। तुम्हें गाली दें पर तुम सुन न पाओ तो तुम्हें गुस्सा नहीं आता जबकि कोई झूठी ही खबर दे कि अमुक तुम्हें गाली देता है तो गुस्सा आता है। गाली के अस्तित्व से ज़्यादा ज़रूरी गाली का ज्ञान है अतः इस ज्ञान और इसके कार्य गुस्से में अनन्यता सम्भव है। इसे परिमल में अप्पय दीक्षितेन्द्र समझाते हैं 'तद्भावनानुरक्तधीबोध्यत्वं,.....तद्वैशिष्ट्यबुद्धिबोध्यत्वम्'; इसलिये कार्यकारणता निर्भर है समझने वाले की बुद्धि पर। प्राचीन नैयायिक और आधुनिक रसायनवित् संसार की कारणता परमाणुओं में समझते हैं, साथ ही प्राचीन सांख्यवाद सत्त्वादि गुणों के तारतम्यरूप स्पन्दों में समझते हैं, आधुनिक भौतिकीवित् विद्युच्चुम्बकीय तरंगों में समझते हैं; सभी सूक्ष्म विचारक विद्वान् हैं, किन्हीं स्वार्थों से ग्रस्त नहीं माने जा सकते, सभी को तर्क उपलब्ध हैं। वेदान्ती इससे निर्णय करता है कि गुण-परमाणु आदि में कारणता होती तो निर्णय हो सकता था, कारणता तो इस पर निर्भर है कि समझने वाले की बुद्धि में भावना क्या है। व्यवहार में तो रोटी के प्रति कारण गेहूँ, आटा ही सबको मान्य है, न कोई गुण खरीदने जाता है, न परमाणु, न तरंगें! व्यावहारिक कारणता गेहूँ-चणे आदि तक सीमित, व्यवस्थित है। भाष्यकार 'युक्तेः शब्दान्तराच्च' (सूत्र.१८) की व्याख्या में कहते हैं 'दधिघटरुचकाद्यर्थिभिः प्रतिनियतानि कारणानि क्षीरमृत्तिका-सुवर्णादीनि उपादीयमानानि लोके दृश्यन्ते।' जहाँ तक व्यवहार-सम्पादन है, इतना ही कार्यकारणभाव माना जाता है। मतभेद शुरू होता है जब व्यवहार से परे जाते हैं। रोटी का कारण आटा, उसका कारण गेहूँ, उसका कारण खाद-पानी-मिट्टी-बीज–यहाँ तक व्यवहार है लेकिन इससे आगे कारण खोजने जायेंगे तब दृष्टिभेद से प्रतीतियाँ होंगी अतः मतभेद होंगे। अनुस्यूत को कारण देखने चलें तो कालवादी मिलते हैं कि काल ही सबके प्रति कारण है। घटनाएँ सभी काल-सीमित, किसी-न-किसी समय में सीमित मिलती हैं। अच्छी-बुरी, संगत-असंगत हर घटना काल में मिलने से उसी का कार्य मानी जा सकती हैं। यद्यपि कुछ घटनाओं को 'अकाल में हुआ' कहते हैं जैसे जवान स्वस्थ व्यक्ति का मरना, वैशाखी के दिन काली घटाओं का आसमान में छा जाना; ऐसा कहने का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाव इतना ही है कि आशानुरूप समय में घटना नहीं हुई, यह नहीं कि जब हुई तब काल ही नहीं था। महाकाल में ही हुईं, लेकिन सापेक्ष काल की दृष्टि से उन्हें अकाल-घटना कह देते हैं। काल की तरह और भी कारण माने जाते हैं। सर्वत्र, समझने वाला क्या भावना रखता है इसका अन्तर प्रभावी है, सर्वथा ग़लत किसी को नहीं कह सकते। इसी से वेदान्ती का अनिर्वचनीयकारणतावाद है। सर्वथा जो नहीं था वह हो गया तब कार्य कहलाये यह संभव ही नहीं, जो छिपा है वही उघड़ सकता है। व्यास जी दृष्टान्त से समझाते हैं 'पटवच्च' (सूत्र १९) कि सिमटे कपड़े को कितना लम्बा-चौड़ा है यों नहीं देख सकते, फैलाये को साफ देख सकते हैं, ऐसे ही कारणदशा में कार्य स्फुट उपलब्ध नहीं होता, कार्यदशा में स्फुट मिल जाता है, इतना ही भेद है। काश्मीर का 'शहतूष' का शाल आता है जो होता पूरे मर्दाना शाल के आयाम का लेकिन एक अंगूठी से आर-पार निकाल सकते हो! अंगूठी से निकलते समय उसकी लम्बाई-चौड़ाई, उसमें जो कढ़ाई की गयी है, वह सब कुछ नहीं दीखता, फैला देने पर सब दीख जाता है। न दीखती दशा ही कारण की स्थिति, दीखती दशा ही कार्य की स्थिति है, इतना ही इनमें अन्तर है, तत्त्वदृष्ट्या अनन्यता है। भाँग के नशे में सोये पड़े पहलवान को सुई चुभाओ तो भी उसे कुछ मालूम नहीं चलता, तुम्हें धकेल भी नहीं सकता, वही बिना नशे के जगा हो तो तुम उसे घूर कर देखो तो ही तुम्हें पटक देता है! उसकी ताकत तब ना मालूम थी, अब मालूम है, तब कारणरूप से थी, अब कार्यरूप से है। इसी तरह प्रलय में प्रपंच ब्रह्म में अव्यक्त है, आवृत है पर ग़ैर-मौज़ूद नहीं। सृष्टिकाल में प्रपंच व्यक्त है, प्रकट है। इतना ही अन्तर है, वस्तु तो एकमात्र ब्रह्म ही है। इसे समझाने के लिये कारण-कार्य के मध्य शक्ति की कल्पना है : 'कारणस्यात्मभूता शक्तिः, शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम्'। कारण से शक्ति अभिन्न और शक्ति से कार्य अभिन्न! इस प्रकार समझने की सुविधा हो जाती है कि कार्य-कारण का अभेद है। व्यवहारमात्र के प्रयोजन से नहीं, वास्तविकता जानने के लिये मूल कारण समझना ज़रूरी क्योंकि समझकर ही उसे समाप्त किया जायेगा जिससे सारा व्यवहार ही निरस्त होगा!

अविद्या-निवृत्ति से अन्य मोक्षहेतु तभी सम्भव है जब बन्धन वास्तविक हो। सचमुच कोई जन्मा-मरा हो तो इस चक्र से छुड़ाया जा सके लेकिन अज्ञानवश ऐसा है इसलिये ज्ञानमात्र से छूटेगा। भक्तों ने तो माना कि अज्ञान के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बिना चाहे जितने जन्म हों, क्या हर्ज है 'जन्मानि सन्तु मम देव शताधिकानि, माया न मे विशतु चित्तम् अबोधहेतुः।' तत्त्व को आवृत करने वाली माया चित्त में न घुसे तो भले ही सैकड़ों जन्म हों, कोई हानि नहीं। शरीर की उत्पत्ति, शरीर के नाश से 'मैं जन्मा, मैं मरा' यह असत्य भान न रहे तो शरीरों के आने-जाने से कुछ नहीं बिगड़ सकता। जन्मादि नहीं वरन् 'मैं जन्मा' आदि अभिमान, अज्ञानजन्य भ्रान्ति दुःखहेतु है। अतएव अज्ञाननिवृत्ति ही दुःखसमापक संभव है और उसका साक्षात् उपाय तत्त्वज्ञान ही है। ज्ञान के लिये अनेक साधन अनिवार्य होने से भ्रम हो जाता है कि वे मोक्षोपाय हैं। यदि परम्परया, क्रम से उन्हें मोक्षार्थ उपयोगी समझें तो सही है, साक्षात् साधन वे नहीं हैं।।२।।

(श्लोक ३ से ४१ तक के महाराजश्री जी के व्याख्यान अनुपलब्ध हैं। टीकानुसार यथामति उनका अभिप्राय प्रकरण-पूर्ति के लिये प्रकट किया जा रहा है।)

मुमुक्षु के लिये ज्ञान का विधान और ज्ञान को ही मोक्ष के प्रति एकमात्र उपाय कहने पर प्रश्न उठता है कि जब लोक में भी सभी फल कर्मनिर्भर हैं एवं नाना सहायता आदि से कर्म में निहित विलक्षण कार्यकारी सामर्थ्य प्रकट होती रहती है तो किसी कर्म से या किसी अन्य साधन से समुच्चित कर्म से अज्ञान-नाश क्यों नहीं होगा, आत्मसाक्षात्कार की ही अनिवार्यता क्यों? इसके उत्तर में आचार्य समझाते हैं कि कर्म से अज्ञाननाश की असम्भवता में हेतु क्या है—

अविरोधितया कर्म नाऽविद्यां विनिवर्त्तयेत्।
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसङ्घवत् ।।३।।

अविद्या के विरोध के स्वभाव वाला ही न होने से कर्म अविद्या को उन्मूलित नहीं कर सकता। घनीभूत अँधेरे को जैसे रोशनी मिटाती है ऐसे अविद्या को विद्या ही समाप्त करती है।

लौकिक कार्य-कारण व्यवस्था लौकिक प्रमाणों से निर्णीत होती है और आत्मविषयक अज्ञान का समापक लौकिक कोई कर्म मिलता नहीं। शास्त्रीय कर्मों की साधनता शास्त्रसिद्ध है और श्रुति-स्मृति ने किसी कर्म को मोक्षफलक विनियुक्त किया नहीं। इसलिये अचिन्त्य सामर्थ्य वाला होने पर भी कर्म अविद्या मिटाये यह स्वीकारना प्रमाणहीन है। किंच कर्म अज्ञानभूमिका में, अज्ञाननिर्भर है अतः अज्ञान हटाये यह संगत नहीं। ज्ञान अज्ञान मिटाता है यह लोक व

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परीक्षक-समाज सर्वत्र स्वीकार है, सर्वसम्मत है। ज्ञान-अज्ञान के परस्पर विरोध के लिये कल्पना कुछ नहीं करनी जबकि कर्म-अज्ञान के विरोध को प्रमाण के बिना कल्पना से मानना होगा। इसलिये शास्त्रोक्त एवं सर्वसम्मत व्यवस्था से अज्ञान मिटाने में ज्ञान ही समर्थ स्वीकार है। अज्ञान तो दूर, अज्ञान का व्यक्त रूप जो मनोमालिन्य, काम-क्रोध आदि दोष, वे भी विवेक से ही दूर होते हैं, कर्म से नहीं। कर्म तो अभिमान बढ़ाकर उन्हें दृढ करता है। चित्तशुद्धि में निष्काम कर्म का विनियोग है, वह निष्कामता कर्म से नहीं विवेक से प्राप्त होती है। स्वयं तो कर्म हेतुफलावेश का पोषक ही बनकर बन्धनकारी है, मोक्षपक्षीय नहीं। कर्म मोक्षमार्ग में उपयोगी भले ही हो जैसा कि व्यास जी ने सर्वापेक्षा-अधिकरण में समझाया, लेकिन मोक्ष में मुख्य, साक्षात् उसका योगदान नहीं जैसा कि अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा-अधिकरण में उन्होंने स्पष्ट किया। इस प्रकार, विचित्र सामर्थ्य वाला होने से कर्म किसी ताल मेल से अविद्या मिटाये यह प्रमाण-युक्ति से समर्थित नहीं, ज्ञान अज्ञान मिटाये यह लोक-शास्त्र सर्वत्र अनुभूत है अतः मुमुक्षु के लिये आत्मबोध का विधान ही सार्थक है।।३।।

जिसके बोध का विधान किया वह तो मैं-रूप से सबको मालूम है, उसे क्या जानना है? आत्मा तो हर व्यक्ति स्वयं को समझ ही रहा है, दूसरा उसे बता कैसे सकेगा? सभी अपने-अपने आत्मा को जान सकते हैं, शास्त्र कैसे सभी के लिये एकरूप उपदेश देगा? इस तरह की शंका विभिन्न आत्मा मानकर उठती है। जीव परस्पर सर्वथा पृथक्-पृथक् आत्मा हैं, यदि परमात्मा है तो वह भी सब जीवों से सर्वथा भिन्न कोई आत्मा है—ऐसी कल्पनानुसार प्रतिशरीर विभिन्न आत्मा रहते आत्मज्ञान से अन्यात्मकृत बन्धन कैसे समाप्त होंगे? इस शंका के उत्तर में कहते हैं—

अवच्छिन्न इवाऽज्ञानात् तन्नाशे सति केवलः ।
स्वयम्प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेंऽशुमान् इव ।।४।।

अज्ञानवश सीमित-सा प्रतीत होता आत्मा उस अज्ञान के नष्ट होने पर स्वयम् केवल (अद्वितीय) भासता है जैसे मेघ हट जाने पर सूर्य स्वयम् भासमान रहता है।

आत्मा अनेक नहीं। न जीवात्मा प्रतिदेह भिन्न हैं न जीवात्मा से परमात्मा भिन्न है। आत्मा अखण्ड परिपूर्ण व्यापक है। इस अपनी व्यापकता के अज्ञानवश

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह स्वयं को देहद्वय से परिच्छिन्न, सीमित समझता है और देहभेद से आत्मभेद के भ्रम में रहता है, समष्टि उपाधि से युक्त स्वयं को ईश्वर और व्यष्टि उपाधियों वालों से भिन्न समझने लगता है। समष्टि में आवरण नहीं, व्यष्टि में आवरण है, वहीं भेद का भ्रम है। सीमितता के भ्रम से ही सारे दु:ख व बन्धन हैं अत: इन सबके निवारण का एकमात्र उपाय इस भ्रम के मूल अज्ञान को दूर करना है। आसमान में बादल छाये रहते सूर्य की खुली धूप से हम वंचित रह जाते हैं, बादल छँटते ही धूप उपलब्ध हो जाती है क्योंकि धूप तो निरन्तर थी ही। ऐसे ही आत्मा स्वरूप से असीम, अपरिच्छिन्न, व्यापक ही है, अज्ञान से प्रतीत सीमित हो रहा है, अज्ञान मिटते ही व्यापक अद्वितीयरूप से भासमान बना रहता है। जिन अच्छे-बुरे शरीरों से स्वयं को एकमेक समझने पर अनेक जीव प्रतीत हैं वे शरीर ही जब वास्तविक न हो अज्ञान-परिकल्पित हैं तब उनमें अध्यासमात्रवश प्रतीयमान भेदादि व्यवहार असत्य हो इसमें क्या आश्चर्य और इसकी निवृत्ति इस सबके मूल कारण अज्ञान के हटते ही स्वत: सिद्ध है। तत्त्व अर्थात् सत्य पर दृष्टि पड़ते ही अज्ञान बचता नहीं कि कुछ भी सद्वय बना सके। अद्वितीय सच्चिदानन्दरूप मोक्ष यही है।।४।।

आत्मा सर्वथा अद्वितीय है ही नहीं, अभी अविद्या से सद्वितीय है तो ज्ञान होने पर विद्या से, अखण्डाकार वृत्ति कहलाते ज्ञान से, सद्वितीय है; ऐसे में उसे अद्वितीय अर्थात् वस्तुत: भेदमात्र से रहित जानना प्रमा नहीं अत: अविद्या-निवर्त्तक भी नहीं। इस तरह अद्वयात्मवाद असंगत है। यह आक्षेप उठने पर विद्या से सद्वितीयता की सम्भावना हटाकर अद्वय उपपन्न करते हैं—

अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद् विनिर्मलम् ।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत् ।।५।।

अज्ञान से कलुषित जीव को ज्ञान अपने अभ्यास द्वारा विशेषत: मलहीन बनाकर खुद भी वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे कतकरज (फिटकरी या निर्मली बूटी) जल को निर्मल कर स्वयं भी जल से हट जाता है।

दृष्टान्त लोकदृष्ट ही है – मटमैले पानी में फिटकरी घुमा दें तो मिट्टी तले में बैठ जाती है एवं कुछ समय बाद फिटकरी भी नीचे बैठ जाती है, फिर उस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मलहीन जल को बिना हिलाये दूसरे बर्तन में उड़ेलकर काम में लिया जाता है। जिसने जल से मल हटाया उसने स्वयं से जल को मलिन नहीं किया वरन् जल छोड़ दिया – इतनी बात इस दृष्टान्त में देखी जाती है। इसी तरह तत्त्वज्ञान मल हटाकर स्वयं भी हट जाने से आत्मा को सद्वितीय न बनाये यह संगत ही है।

आत्मा की कलुषता स्वयं अज्ञान भी है और उससे हुए अहंकार-ममकार आदि भ्रम हैं। इन्हीं के चलते जीव अभिमान करता है कि मैं करने वाला, भोगने वाला। सभी पापों का मूल ये अभिमान ही हैं क्योंकि भोग के ही लिये कोई पाप होता है। परम शुद्ध व्यापक ब्रह्म को परिच्छिन्न, कर्तृतादि वाला जानना भी अपने-आप में पाप है, मानों आत्मा का अपहरण है! इस कलुषता के निवारण में तत्त्वज्ञान ही सक्षम है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये अमानित्वादिरूप गीतोक्त ज्ञान का अभ्यास कर्त्तव्य है जिससे समर्थ हुए चित्त में श्रवणादिरूप ज्ञान का अभ्यास तब तक कर्त्तव्य है जब तक अपनी कूटस्थता, अपरिच्छिन्नता का सुदृढ निश्चयरूप ज्ञान न हो। इसी निष्ठात्मक ज्ञान के प्रयोजन से पूर्वोक्त ज्ञानों की आवृत्ति की जाती है। क्योंकि प्रयोजनभूत यह ज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिये ज्ञानों के अभ्यास के लिये प्रेरित करता है इसलिये उनके अभ्यास द्वारा यही ज्ञान जीव के विनिर्मलीकरण को सम्पन्न करता है। तात्पर्य है कि मलनिवारण ज्ञान से है, अभ्यास से नहीं, भले ही अभ्यास आवश्यक हो। दृढ तत्त्वज्ञान अज्ञान और उसके कार्यभूत मन आदि को सर्वथा समाप्त कर देता है इसलिये मनोवृत्तिरूप ज्ञान भी नष्ट ही हो जाता है जिससे सद्वितीय बनाने वाली कोई विद्या नहीं बचती। साधारणत: कार्य नष्ट हो तो कारण रह जाता है, तत्त्वज्ञान जब नष्ट करता है तब सकारण नष्ट करता है इसलिये निर्मलीकरण में विशेषता है। तत्त्वज्ञान कहलाती वृत्ति में प्रतिबिम्बित जो आभासरूप ज्ञान वह वृत्ति नष्ट होने पर मानो आत्मा से एक हो गया। तात्पर्य है कि ज्ञान नष्ट होने का यह अर्थ नहीं कि ज्ञानाभाव रह जाये या अज्ञान ही फिर उदय हो जाये क्योंकि ज्ञान का वृत्ति-भाग ही नष्ट हुआ, आत्मरूप से वह बना ही रहा। आत्मा ही अवशेष रहने से सद्वितीयता का प्रसंग नहीं यह भाव है। स्वत: ज्ञानात्मक आत्मा भान के लिये भी वृत्ति की अपेक्षा नहीं रखता। भासमान अबाध्य आनन्द होने से यही मोक्ष है।।५।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अद्वितीयता पारमार्थिक है यह स्पष्ट करने के लिये द्वैत-उपलब्धि रहते भी तत्त्व वास्तव में अद्वय है यह दृष्टान्त-पूर्वक समझाते हैं ताकि अविद्याकाल के अपरीक्षित प्रत्यक्ष से भी तत्त्वविषयक कोई विरोध न रहे। साधक अद्वय में श्रद्धालु बने इसके लिये उसे दीखते द्वैत की संगति बताना आवश्यक है, तभी साक्षात्कार के लिये प्रवृत्ति होगी—

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसङ्कुलः ।
स्वकाले सत्यवद् भाति प्रबोधे सत्यसन् भवेत् ॥६॥

राग-द्वेष आदि से युक्त स्वप्न-जैसा संसार अपने समय में सत्य-सा लगता है परन्तु सत्य को समझ लेने पर असत्य ही निकलता है।

रागादि भावनाएँ संसार को अव्यवस्थित भीड़-भाड़ वाली धक्का-मुक्की की जगह बनाये हैं। संसार का कारण तत्त्व का अज्ञान जब तक है तब तक संसार-काल है, तब तक संसार लगता है मानो सत्य हो। सपना भी जब तक दीखता है तब तक सत्य ही लगता है, जगने के बाद ही उसका बोध होता है। सपना होता मिथ्या है पर निद्रादि दोष से लगता सत्य है, इसी तरह संसार है मिथ्या पर अविद्यादोष से लगता सत्य है। सपने का मिथ्यात्व जगने पर पता चलने की तरह तत्त्वसाक्षात्कार होने पर संसार-मिथ्यात्व प्रत्यक्ष हो जाता है। सत्य का अर्थ तो है अबाध्य, संसार अबाध्य है यह विचार, परीक्षा के बगैर निर्णय कर नहीं सकते लेकिन उसके बिना ही मानकर चलते हैं कि सत्य है इसलिये कहा कि 'सत्य-सा' लगता है। स्थूल दृष्टि से सत्य लगता है, थोड़ा सोचें तो सत्य-सा लगता है, प्रामाणिक विश्लेषण करें तब पता चलता है कि मिथ्या है। प्रबोध अर्थात् परमात्मा की व्यापकता की समझ आने पर संसार के बारे में निश्चित होता है कि यह असत्य है, 'तुच्छ' है। उससे पूर्व विचारादि के फलस्वरूप मिथ्या अर्थात् अनिर्वचनीय तो समझा जा भी सकता है किंतु असत्य नहीं प्रतीत होता। स्वप्न के बारे में जैसे सत्यवद् भान और उसकी असत्यता का भान – ये ही दो स्थितियाँ हैं, उसके मिथ्यात्व के भान की कोई दशा नहीं, वैसे संसार में अभी सत्यवद् भान एवं तत्त्वसाक्षात्कार होने पर असत्यता का भान ये दो दशाएँ स्पष्ट हैं॥६॥

निद्रा में परीक्षा संभव नहीं लेकिन संसार की परीक्षा की जा सकती है यह जाग्रत् का महत्त्व है। अतः संसार को विचार-दृष्टि से अनिर्वाच्य, मिथ्या भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाना-समझा जा सकता है। सपने से यह अंतर दिखाते हुए अन्य दृष्टान्त से संसार-मिथ्यात्व दृढ करते हैं—

तावत् सत्यं जगद् भाति शुक्तिका रजतं यथा।
यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ॥७॥

जैसे सींप सचमुच चाँदी प्रतीत होती है वैसे जगत् तब तक सत्य प्रतीत होता है जब तक सबका अधिष्ठान ब्रह्म जान नहीं लिया जाता।

सींप की विशेषताएँ न पता चलें तभी भ्रमवश उसे चाँदी समझा जाता है और उस चाँदी को सत्य समझा जाता है। जब तक सींप-विषयक अज्ञान है तब तक उसे वास्तविक चाँदी समझा जा सकता है यदि उसका सामान्य ज्ञान हो। इसी प्रकार ब्रह्म की विशेषताएँ न जानें, उसका सामान्य भान हो, तभी तक संसार सत्य प्रतीत रहता है। बाह्य विषय भी सत्य ग्रहण होते हैं, खुद को सचमुच देहादि से परिच्छिन्न और कर्त्ता-भोक्ता समझा जाता है। यद्यपि ब्रह्म में सामान्य-विशेष भाव नहीं तथापि जिस ज्ञान से प्रपंचभ्रम की निवृत्ति होती है वह विशेष-विषयक और जो भ्रम में भी बना रहे वह सामान्य-विषयक स्वीकारा जाता है। खासकर अद्वयता, अभेद ऐसा भाग है जो प्रपंच-प्रतीति रहते नहीं भासता तथा जिसके भासने पर प्रपंच निवृत्त होता है। अत: सारे बाह्य-आभ्यन्तर प्रपंच का अधिष्ठान अद्वय ब्रह्म कहा। ब्रह्म अद्वय है—यह जानने से पूर्व ही जगत् सत्य लगता है, जानने पर वह सत्य नहीं लग सकता। ब्रह्म की अद्वयरूपता का साक्षात्कार साक्षी के स्वरूप में होता है : युष्मद्-अस्मद्-विभाग समाप्त होने पर जो प्रत्यक् चैतन्य अवशिष्ट है वही यहाँ साक्षी है न कि साक्ष्य के प्रति जो प्रकाशक वह। अद्वयबोध होने पर सद्वयतानिवृत्ति का भी वह प्रकाश रह गया इसलिये साक्षी कहा जाता है। अब वह प्रकाशक नहीं है क्योंकि इसके लिये भी अविद्यावृत्ति चाहिये थी, केवल प्रकाश है, फिर भी 'निवृत्ति का प्रकाश' इसलिये कहते हैं कि निवृत्ति से उपलक्षित प्रकाश है। इस स्थिति की उपलब्धि से पूर्व ही संसार-सत्यता की भ्रान्ति रह सकती है, पश्चात् नहीं।।७।।

इसके अनन्तर किन्हीं संस्करणों में एक श्लोक है जो पद्मपादटीका द्वारा व्याख्यात नहीं अत: संभवत: उनके पाठ में नहीं था। श्लोक है—

उपादानेऽखिलाधारे जगन्ति परमेश्वरे।
सर्गस्थितिलयान् यान्ति बुद्बुदानीव वारिणि ॥ क ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सबके आधार, उपादानभूत परमेश्वर में सारे ब्रह्माण्ड सृष्टि-स्थिति-लय अवस्थाएँ वैसे ही पाते रहते हैं जैसे जल में बुलबुले।

सृष्टि-लय से पूर्व-पश्चात् तथा सृष्टि के दौरान बना रहने वाला उपादान कहलाता है जैसे बर्त्तनों के प्रति मिट्टी। संसार के प्रति परमेश्वर ही ऐसा कहा जा सकता है। यद्यपि अनादि अज्ञान सृष्टि से पूर्व एवं दौरान भले ही हो, पश्चात् नहीं रहता क्योंकि संसार का जो तत्त्वज्ञान-प्रयुक्त 'पर अन्तकाल' होता है तदनन्तर अज्ञान बचता नहीं, ब्रह्म ही रहता है। कूटस्थ होने से उसे विवर्त्तोपादान भले ही कहें पर है वही उपादान! परिणामी उपादान अविद्या इसीलिये मानी जाती है कि प्रपंच मिथ्या है, अन्यथा, कारण तो वही कहा जा सकता है जो सत्य हो। कार्य सत्य हो या असत्य, कारण सत्य को ही मान सकते हैं। अतएव जगत्कारण ब्रह्म ही स्वीकारा गया है। परमेश्वर उपादान है इसमें प्रमाण है कि वह अखिल ब्रह्माण्डों का आधार है। अध्यास और बाधक प्रमा दोनों में भासते को आधार कहते हैं जैसे सर्पादि का इदमंश। क्योंकि आधारांश का बाध नहीं होता इसलिये वह सत्य होता है और क्योंकि वह भ्रम में भी अनुगत होता है इसलिये घटानुगत मिट्टी की तरह कारण होता है। जल बुलबुलों का उपादान, आधार प्रत्यक्ष है। इसी तरह परमेश्वर जगत् का उपादान, आधार किंतु शास्त्रैकसमधिगम्य है। जन्मादि दशाओं को ब्रह्माण्ड क्रमशः प्राप्त होते रहते हैं, कारण परमेश्वर ही रहता है। अज्ञान को दोषरूप कारण कहने के लिये स्वप्न दृष्टान्त, अधिष्ठान-ज्ञान से बाध बताने के लिये शुक्ति-रजत दृष्टान्त और आधारविधया अनुगति बताते हुए स्फुट बाध के बिना भी मिथ्यात्व समझाने के लिये बुलबुला दृष्टान्त है। बुलबुले का त्रैकालिक अभाव भले न समझा जाये, उसे जलातिरिक्त सत्य नहीं माना जाता। इससे अनित्यता को मिथ्यात्व में हेतु भी कह दिया। यह श्लोक पद्मपादीय टीका में सूचित नहीं है।।क।।

अद्वय ही सबका अधिष्ठान है क्योंकि सारा ज्ञेय सद्वय प्रपंच अद्वय में ही माया से अध्यस्त है यह समझाने के लिये अद्वय का स्वरूप प्रकट करते हैं—

सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णौ प्रकल्पिताः ।
व्यक्तयो विविधाः सर्वा हाटके कटकादिवत् ।।८।।

सब में अनुगत सद्रूप चिद्रूप आत्मरूप नित्य परब्रह्म में सारे विविध परिच्छिन्न नाम-रूपधारी सोने में कंकणादि गहनों की तरह आरोपित हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनुगत में व्यावृत्त कल्पित होता है यह वेदान्तमर्यादा है। बदलने वाले व्यावृत्त कहलाते हैं, यदि उनमें कुछ ऐसा मिले जो नहीं बदलता तो उसे अनुगत, अनुस्यूत, अनुवृत्त कहते हैं। बर्त्तन बदलने वाले पर सब में एक रहती मिट्टी मिलने से उसमें बर्त्तन कल्पित स्वीकार हैं। संसार में नाम-रूप-कर्म बदलते रहते हैं, सद्रूपता एक ही रहती है अत: अनुगत सत्तत्त्व में नाम-रूप कल्पित हैं। सत् भी ज्ञान से स्वतन्त्र नहीं अत: सद्रूप ही चिद्रूप है। आत्मा अर्थात् स्वरूप; सभी नाम-रूप वाले पदार्थों का निजी स्वरूप होता ही है अत: वह अनुगत है। किंच आत्मा अर्थात् प्रत्यग्भाव। सभी जीवों में आत्मा अनुगत है। यह सच्चिदात्मा अनुगत होने से अधिष्ठान है अत: अज्ञात चेतन होने से परब्रह्म, विष्णु है। जो परिच्छिन्न रहकर परिच्छिन्न से ही व्यवहार कर सके वह 'व्यक्ति' कहलाता है। नाम-रूप से युक्त होने पर बाह्य व्यवहार के योग्य अर्थात् अभिव्यक्त होने पर ही 'व्यक्ति' समझा जाता है। विभिन्न जीव भी व्यक्ति कहलाते हैं जिन्हें समष्टि जीव में या व्यापक जीवस्वरूप में, विष्णु में कल्पित कहना भी बनता है। वस्तुत: उपाधि भाग ही व्यक्त है, जीव भाग नहीं अत: जीव को कल्पित नहीं भी कहते लेकिन संसर्गाध्यास के अभिप्राय से उसे कल्पित कहना असंगत नहीं। जीवत्व कल्पित है यह तो निर्णीत ही है। व्यक्ति-शब्द सभी परिच्छिन्न अभिव्यक्त पदार्थों का बोधक है। वे व्यावृत्त हैं क्योंकि विविध हैं। उनमें एकविध सदादि आत्मा ही उनका अधिष्ठान है। स्वप्न, रजत, बुलबुले दृष्टान्तों में व्यवहार-सम्पादकता स्पष्ट नहीं अत: गहनों का दृष्टान्त दिया। गहने अपने अनुरूप व्यवहार करते हैं, तत्तद् व्यवहार के लिये आवश्यक ही हैं; क्वचित् शास्त्रीय व्यवहार में भी विनियुक्त हैं; इहलोक-परलोक के व्यवहार व्यवस्थित रूप से सम्पन्न करने के बावजूद गहनों की सोने से पृथक् कोई सत्ता नहीं अत: उसी में कल्पित हैं। कल्पित वस्तु व्यवहारयोग्य भी हो सकती है यह इस उदाहरण में प्रकट है। आत्म-बोध जिस आत्मा के बारे में चाहिये वह व्यापक सच्चिदात्मा है जो इसीलिये अद्वय है कि सारा द्वैत उसपर मात्र कल्पित है। कल्पित से सत्य में सद्वयता, भेद संभव नहीं।।८।।

अध्यस्त-अधिष्ठानभाव से अधिष्ठान की त्रैकालिक निर्विकारता में कोई अन्तर नहीं आता यह स्पष्ट करते हैं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यथाकाशो हृषीकेशो नानोपाधिगतो विभुः।
तद्भेदाद् भिन्नवद् भाति तन्नाशे केवलो भवेत्॥९॥

इन्द्रिय-प्रेरक ईश्वर आकाश की तरह विभु रहते ही अनेक उपाधियों के अन्तर्गत उपाधि-भेद से लगता है मानो भिन्न हो और उपाधियाँ नष्ट होने पर अखण्ड ही होता है।

आत्मा के बारे में अनेक स्पष्टताएँ आकाश के उदाहरण से समझाई जाती हैं। बिना टुकड़ों वाला हुए टुकड़ों में प्रतीत होना, परिच्छिन्न व्यवहार सम्पन्न करना, व्यापक और सब का आधार बने रहना, कूटस्थ निर्विकार रहना, निषेधव्यवहार का विषय बनने पर भी वस्तुतः उपस्थित ही रहना, असंग रहना इत्यादि अनेक समानताएँ आत्मा व आकाश में सुलभ हैं। व्यापक अतः सर्वत्र सुलभ आकाश भी हमारे उपयोग में तभी आता है जब किसी-न-किसी उपाधि में घिर जाये। जगह काम तब आये जब घड़े-दीवाल आदि से घिरी हो, अन्यथा वर्त्तमान भी जगह उपयोग में नहीं लाई जा पाती। उपाधि-सम्बन्ध वाला होते हुए भी आकाश स्वरूप से अपरिवर्त्तित ही रहता है अतः उपाधि हटने से आकाश में फ़र्क़ नहीं पड़ता, केवल इतना ही होता है कि सम्बन्ध रहते जिन कामों में आता है, उपाधि-सम्बन्ध न रहते उन कामों में नहीं आता। स्वरूपतः आकाश समाप्त नहीं होता। इसलिये 'उपाधिगत' होना उपाधिसम्बद्ध प्रतीत होना ही कहा जा सकता है। उपाधियाँ विभिन्न होती हैं अतः आकाश भी गोल-चौरस-लम्बा आदि भले ही प्रतीत और व्यवहार्य हो पर ये भेद आकाश में केवल आरोपित ही हैं, भेद उपाधि के ही हैं। अतः आकाश में भेदानुभूति करते हुए भी मालूम रहता है कि भेद उसमें नहीं, उपाधि में है। उपाधि हटने पर आकाश की स्वाभाविक अभिन्नता स्पष्ट हो जाती है। ऐसा नहीं कि सोपाधि दशा में भेदग्रस्त आकाश उपाधि-नाश से अभिन्न (केवल) होता हो वरन् निरन्तर अभिन्न ही आकाश सोपाधि दशा में जैसे भेदयुक्त लगता है वैसे निरुपाधि दशा में लगता नहीं। आगे, उपाधि-सम्बन्ध भी वास्तविक नहीं यह विचार से समझ आता है। निरवयव में संयोग नहीं हो सकता और घट-आकाश में साक्षात् कार्यकारणता नहीं कि समवाय हो, अतः लोकादि-सिद्ध सम्बन्धों के बिना ही प्रातीतिक सम्बन्ध वाला ही मान सकते हैं। उपाधि हटने से प्रतीति नहीं रहती अतः 'केवल हो गया' कहलाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी प्रकार आत्मवस्तु है : आकाश को शब्दादि वाले के रूप में ही समझा जाता है, ऐसे ही आत्मा समझने के लिये उसका प्रभाव देखा जाता है कि वह हृषीकेश है। हृषीक कहते हैं बाह्य-आभ्यन्तर इन्द्रियों को, उन्हें प्रेरणा देने वाला, उन पर नियमन करने वाला होने से आत्मा हृषीकेश है। केनोपनिषद् में बताया कि सभी इन्द्रियों की अपनी-अपनी सामर्थ्य परमेश्वर द्वारा ही आहित है अतः यक्षरूप में उनके पूर्ण नियन्त्रण की संगति है। कठ आदि में परमेश्वर के 'भय' से देवताओं का नियंत्रण कहा, देवता ही अध्यात्म में इंद्रियाँ हैं। जो थोड़ा-बहुत हमें अपना नियंत्रण प्रतीत होता है वह भी प्रविष्ट ईश्वर का ही है। किं च जीवरूप से प्रेरणा, नियंत्रण उसी सीमा में संभव है जितनी ईश्वर द्वारा प्रदत्त है एवं ईश्वर-प्रेरणा के अनुकूल जीवप्रेरणा होने पर ही सफलता होती भी है अतः जीव-साफल्य का भ्रम हो जाता है। व्यापक भी ईश्वर विभिन्न उपाधियों से घिरा मिलता है। जैसे आकाश के कार्य अन्य महाभूत या उनके विकार ही आकाश की उपाधि बनते हैं, उसे अपने द्वारा सीमित प्रतीत कराते हैं, वैसे सारा प्रपंच परमेश्वर-कार्य है जो उसकी उपाधि बना उसे स्वयं से सीमित प्रतीत कराता है। मन आदि उपाधियाँ चेतन को अपने अंदर ऐसा प्रतीत कराती हैं मानों चेतन वहीं हो, जैसे दर्पण प्रतीत करा देता है मानो सूर्य दर्पण में ही हो! उपाधियाँ अनेक होने से चेतन की अनेकता का इसीलिये भ्रम सहज है। भेद पर थोड़ा भी गौर करें तो उपाधि के अलावा कोई भेद समझ नहीं आता अतः चेतन का भी आकाश-जैसे 'भिन्नवद्' भान ही है, 'भिन्न' ऐसा भान नहीं। आकाश जैसे अनेक नहीं अनुभव में आता वैसे आत्मा अनेक है ऐसा कोई अनुभव नहीं। भेदानुभव उपाधियों के बारे में है, अविवेकवश आत्मा पर आरोपित है। जैसे श्लोक पाँच में जीव का कालुष्य अज्ञान कहा था वैसे जगत्कारण ईश्वर में भेदग्रस्तता का अध्यास ही 'अशुद्धि' है जिसे तत्पदार्थशोधन में दूर करना है अर्थात् समस्तकारण होने से ही उसके वास्तविक अभेद का निश्चय करना है।

उपाधिवश भेदयुक्तता उपाधिनाश से नष्ट भी हो जाती है। औपाधिक सत्य नहीं अतः भेदसम्बन्ध व उसकी निवृत्ति भी सत्य नहीं, सत्य तो अखण्ड निर्विकार ही है। घटादि उपाधियाँ नष्ट होने पर जैसे आकाश केवल, निरुपाधि 'हो' नहीं जाता क्योंकि वास्तव में था ही निरुपाधि, वैसे परमेश्वर उपाधिनाश से केवल 'हो' नहीं जाता क्योंकि है सदा निरुपाधि ही। सारा प्रपंच ईश्वर की उपाधि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, सारा प्रपंच नष्ट तभी हो जब इसका कारण ब्रह्मात्मा की एकता का अज्ञान मिटे। अज्ञान रहते प्रपंच उसमें छिप सकता है, लिपटा रह सकता है पर सर्वथा नष्ट नहीं होता। अखण्ड-साक्षात्कार से मूलभूत अज्ञान नष्ट होने पर ही उपाधिरूप प्रपंच नष्ट होता है जिससे हृषीकेश 'केवल' रह जाता है, निरुपाधि, भेदाध्यास-रहित बचता है। कहीं **'तन्नाशाद् एकवद् भवेत्'** पाठ है। **'तन्नाशे सति केवलः'** भी पाठ मिलता है। 'भिन्नवत्'-भान की समाप्ति को 'एकवद्'-भान के रूप में समझाना संगत ही है। अद्वितीय के अर्थ में एक-शब्द का प्रयोग बहुत स्थलों पर होता भी है। संख्यादि-दृष्टि से परमेश्वर एक नहीं, अभिन्नता-दृष्टि से एक है। इस प्रकार, प्रपंचरूप उपाधि एवं इसकी कारणता से रहित परमेश्वर समझना तत् पद के अर्थ को शोधित करना कहलाता है।।९।।

समस्त उपाधियों के आध्यासिक सम्बन्ध वाला आत्मा जीवों की उपाधियों से भी सम्बद्ध है अतः जीवरूप से बद्ध रहते आत्मा को नित्यमुक्त या वस्तुतः केवल कैसे स्वीकारें? यद्यपि पाँचवें श्लोक में शोधन का उल्लेख हुआ तथापि उसका विस्तार बताने का अब अवसर है। ईश्वर आत्मा ही है, जीवात्मा बन्धनग्रस्त है तो आत्मा नित्यमुक्त कहना नहीं बनता। शास्त्र जीवों पर मर्यादाएँ विहित करता है अतः शास्त्र भी जीव को बद्ध स्वीकारता है फिर नित्यमुक्तता की चर्चा कैसे? इसके समाधान में कहते हैं—

नानोपाधिवशाद् एव जातिनामाऽऽश्रमादयः ।
आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादिभेदवत् ॥१०॥

अनेक उपाधियों के कारण ही आत्मा पर जाति, नाम, आश्रम आदि वैसे ही आरोपित हैं जैसे जल में विभिन्न स्वाद, विभिन्न रंग आदि।

जीवात्मा का बन्धन ही आरोपित, अध्यस्त, मिथ्या है अतः नित्यमुक्तता सत्य है। बंधन जिन सन्दर्भों, परिप्रेक्ष्यों में अनुभव होता है, व्यवहृत होता है वे सभी उपाधिस्तर के हैं। यदि आत्मा बद्ध होता तो उपाधि-सम्बन्ध के बगैर बन्धनानुभूति, बन्धन-व्यवहार होता। शास्त्रीय हो या लौकिक, सारा व्यवहार, सारी मर्यादायें, सभी कर्त्तव्य आदि किसी-न-किसी शरीर-मन को सामने रखकर संभव हैं, आत्मामात्र को सामने रखकर नहीं। शास्त्र कोई भी नियम आत्मा के लिये विहित नहीं करता, मनुष्य-ब्राह्मण-ब्रह्मचारी आदि के लिये करता है। इससे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्पष्ट है कि शास्त्र जीवात्मा को भी बद्ध नहीं स्वीकारता। जीव स्वयं को जाति अर्थात् जन्म वाला मानता है। जन्म शरीर का ही होता है, आत्मा का नहीं। आस्तिक सभी आत्मनित्यता स्वीकारते हैं। आत्मा का प्रागभाव या ध्वंस अनुभव या किसी प्रमाण से प्रमाणित है भी नहीं कि उसका जन्म-मरण संभव हो। ब्राह्मणादि वर्ण वाला वही होगा जो उत्पन्न हुआ। आत्मा ब्राह्मण हो तो जन्म-जन्मान्तर में ब्राह्मण ही रहे! कर्म-फलव्यवस्था स्वीकारने पर यह माना नहीं जा सकता। वर्ण शरीर के ही होंगे जो जन्मा है। ऐसे ही आश्रम उसी के होंगे। पाँच-आठ वर्षों के ब्राह्मण का उपनयन होगा, पचीस वर्षों वाले का विवाह होगा आदि वर्षों की गणना देहोत्पत्ति से ही हो सकती है, अनादि आत्मा की उम्र नापी ही नहीं जा सकती। लोक-शास्त्र में सारे व्यवहार इसी तरह देहसन्दर्भ से हैं। 'आदि' से कुल, गोत्र, देश आदि बन्धन समझने चाहिये, ये भी जायमान शरीर पर निर्भर हैं। शरीर बद्ध हो भी तो क्या हर्ज़ है, वह स्वरूप से ही जड है तो अस्वातन्त्र्य उसमें स्वाभाविक है। स्वतन्त्रता आत्मा की ही विशेषता है। विचार से उक्त स्थिति होने पर भी देह से तादात्म्य अध्यास, अभेद का भ्रम, होने के कारण आत्मा स्वयं को बद्ध समझ ज़रूर रहा है, बद्ध है नहीं।

मरण की घटना सोचें तो जानते हैं कि शरीर छूटेगा, 'मैं' इसे छोड़कर जाऊँगा। उपनिषत् स्पष्ट कहती है 'सविज्ञानम् एव अन्ववक्रामति' (बृ.४.४.२)। भाष्यकार बताते हैं कि मरते समय सभी को अपने कर्मों के निमित्त एक विलक्षण वासनात्मक विशेष अनुभव होता है जो भावी शरीर को विषय करता है। इस ज्ञान से अगला शरीर निर्धारित करके पूर्व शरीर छोड़ा जाता है। इस शरीर को छोड़कर वहाँ जा रहा हूँ—ऐसा समझते हुए ही जीव देहत्याग करता है। अभी क्या कर्म किस वासना को उद्बोधित करे इसमें हम परतंत्र हैं लेकिन 'तत्काले स्वातन्त्र्यार्थं योग धर्मानुसेवनम्, परिसंख्यानाभ्यासश्च, विशिष्टपुण्योपचयश्च श्रद्दधानैः परलोकार्थिभिः अप्रमत्तैः कर्त्तव्यः' यदि श्रद्धा से खास पुण्य बटोरें, बिना प्रमाद योगधर्मों का पालन करें, समाधि का अभ्यास करें तो उस समय स्वतन्त्र रहकर भावी का चयन कर पायेंगे। ये सब कार्य मरते समय हो नहीं सकेंगे, अभी से किये जायें यह तात्पर्य है। इसलिये, शरीर छोड़ कर जाने वाला स्वयं को जानने से शरीर से आत्मा अलग मालूम है फिर 'मैं जन्म-वृद्धि-मरण आदि वाला' समझते हैं तो भ्रमवश ही। देह को मैं समझें तब अपना ब्राह्मणादि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वर्ण, देवदत्तादि नाम, ब्रह्मचर्यादि आश्रम, पुत्रत्व आदि सम्बन्ध सभी मैं के प्रतीत हों और तभी लौकिक-शास्त्रीय नियमादि हम पर लागू हों। जन्मादि से हम प्रतीत भले ही सम्बद्ध हो रहे हैं पर विचार से ऐसा है नहीं और क्योंकि इन वर्णादि वाले को ही शास्त्र नियुक्त करता है इसलिये हम पर वास्तव में शास्त्रीय नियोग है नहीं, शास्त्र का यह तात्पर्य ही नहीं कि आत्मा इन विशेषताओं वाला, कर्त्ता-भोक्ता है। अज्ञानवश स्वयं पर आरोपित धर्मों के निमित्त ही लोक-शास्त्र के बन्धन स्वीकारते हैं, ये बन्धन सत्य नहीं। जल स्वभाव से मीठा और सफेद अर्थात् पारदर्शी होता है। इनके अलावा जो उसमें स्वाद और रंग, गन्ध, गर्मी आदि मिलते हैं वे उसमें उपस्थित विभिन्न द्रव्यों के, उन्हें जल से एकमेक समझने से ही। जल खारा नहीं, जलस्थ खनिज-विशेष खारा होता है फिर भी पानी खारा है–यह प्रतीति होती है। ऐसे ही विभिन्न स्रोतों के जल के विभिन्न स्वाद प्रसिद्ध हैं। भ्रान्त अनुभव से जल को वैसा स्वीकारने की तरह स्वयं आत्मा को जाति-वर्ण आदि वाला स्वीकारना भी असंगत है। माया द्वारा स्वरूपतः और संसर्गतः कल्पित विशेषताओं से आत्मा को वास्तव में बद्ध न कह सकने से उसकी नित्यमुक्तता अशंकनीय है। जल के मिठासादिकी तरह आत्मा का स्वरूप ही नित्यमोक्ष है। सद्रूप प्रत्यक्तया भासमान पूर्ण आनन्द ही मोक्ष है, यही आत्मस्वभाव है।।१०।।

त्वम्पदार्थ-शोधन का प्रसंग विस्तार से बताने के लिये प्रतीयमान बन्धन को उपाधि-प्रयुक्त कहा। अब उपाधियों का परिचय देते हैं जिनसे आत्मा को स्वतन्त्र समझना शोधन है। जीवभाव-सम्पादक उपाधियाँ कारण-कार्यभेद से द्विविध हैं, कार्यरूप उपाधियाँ भी सूक्ष्म-स्थूल भेद से द्विविध हैं। उपाधियों के चलते स्वयं को शीर्ण होने वाला, क्षीण, नष्ट होने वाला समझते हैं इसलिये इन्हें शरीर भी कहते हैं। कार्यरूप द्विविध और कारणरूप एकविध, इस प्रकार त्रिविध शरीर हैं जो जीवभाव को, परिच्छिन्नता, बन्धन, कर्तृत्वादि को संभव बनाये हैं। कार्योपाधियाँ प्रभावी रहते जीवभाव प्रकट रहता है, ये अप्रभावी रहते अकेली कारणोपाधि से जीवभाव छिपा-सा रहता है। विवेक द्वारा तीनों से अपने पार्थक्य को समझना जरूरी। कारण से ही छुटकारा प्रमुख है, उसी से फिर कार्य से स्वातंत्र्य रहता है लेकिन दृढतर अनुभव कार्यों से बन्धन का है अतः प्रारम्भ इनसे विवेक करने से होता है। सिर्फ कार्योपाधि-विवेक पर्याप्त नहीं क्योंकि कारण से विवेक बिना किये पूर्ण निर्विकार तत्पदार्थ से अभेद स्वीकार नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होता, आनन्द की अनवच्छिन्न उपलब्धि नहीं होती। कार्योपाधिविवेक तक जाने से सुषुप्तितुल्य प्रकृतिलयावस्था भले ही हो, दुःख भले ही छूटें, परमानन्द नहीं भासता। उपनिषदें अभावात्मक के बजाये भावात्मक मोक्ष को पुरुषार्थ कहती हैं। जिसके लिये कारणभूत उपाधि का बाध भी अनिवार्य है। इस प्रसंग के विवरणार्थ उपाधियों का परिचय कराते हैं। पहले स्थूल उपाधि बताते हैं—

पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसञ्चितम्।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनम् उच्यते ॥११॥

पंचीकृत महाभूतों से उत्पन्न, कर्मों द्वारा रचा शरीर प्रत्यगात्मा के लिये सुख-दुःख भोगने का स्थान कहलाता है।

स्थूल शरीर अर्थात् माता-पिता से जो प्रकट होता है। वह अन्नरसविकार बाह्येन्द्रियग्राह मैं-बुद्धि का विषय बनता है। बाह्येन्द्रियग्राह्य को स्थूल कहते हैं। शरीर स्थूल होने से इसका उपादान स्थूल चाहिये। ईश्वर महाभूत उत्पन्न करता है, वे सूक्ष्म होते हैं, उनसे सूक्ष्म कार्य बनाये जाते हैं और उन्हीं महाभूतों को स्थूल भी बनाते हैं ताकि स्थूल भी कार्य तैयार हों। स्थूलीकरण ईश्वर ही करता है और इसकी प्रक्रिया को पंचीकरण कहते हैं जिससे तैयार भूत पंचीकृत कहे जाते हैं। किसी भी सूक्ष्मभूत के अर्धभाग में अन्य सब सूक्ष्मभूतों के आठवें भाग को मिलाना पंचीकरण है। जिस भूत का अर्धभाग हो उसी की विशेषताएँ इस मिश्रण में प्रकट होने से उसी का नाम चलता है। व्यवहार्य स्थूल आकाश में आधा हिस्सा ही सूक्ष्म आकाश का है, आठवें-आठवें हिस्से बाकी चारों भूतों के हैं, पर कहलायेगा वह स्थूल आकाश ही, शब्दादि आकाश की विशेषताएँ ही उसमें प्रकट होंगी। यद्यपि कथंचित् पाँचों का मेलन मान्य है, अनुपात में आग्रह नहीं तथापि उक्त अनुपात ही परम्परा में स्वीकारा गया। इसी प्रकार युक्ति पर निर्भर रहते कुछ दार्शनिक आकाश-वायु का स्थूलीभवन बिना माने तीन भूतों को ही मिल-जुलकर स्थूल बनने वाला कहते हैं किन्तु लगभग सभी साम्प्रदायिकों ने पाँचों भूतों के स्थूल-सूक्ष्म रूप स्वीकारे हैं अतः पंचीकरण ही सम्मान पा सका है। सूक्ष्म रहते भूत बाह्येन्द्रियग्राह्य नहीं, स्थूल होने पर ग्राह्य हैं। अणुवीक्षण आदि सहायता से भी यदि इन्द्रियग्राह्य है तो स्थूल कहा जायेगा, सूक्ष्म तो परोक्ष प्रमाणों से ज्ञेय रहता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्थूल महाभूतों से स्थूल शरीर बनता है। पिता द्वारा भुक्त अन्न से वीर्य, माता द्वारा भुक्त अन्न से शोणित तैयार हो मिलकर शरीर का आकार लेते हैं फिर अन्न ही उसे बढ़ाता जाता है। स्थूल शरीर सम्भव ही तब है जब पूर्व में स्थूल उपलब्ध रहे अन्यथा, जहाँ स्थूल भूत का सर्वथा अभाव है वहाँ स्थूल शरीर हो ही नहीं पाता। उपादानरूप भूतों को देहाकार में संघटित करने वाला प्रारब्ध-नामक कर्म है। समग्र एकत्र कर्मराशि में से पूर्व-प्रज्ञा (अन्तिम भावना, स्मरण) के अनुरूप भोगे ज़ाने सम्भव शुभाशुभ कर्म एक जन्म में उपभोगयोग्य निर्णय किये जाते हैं जिन्हें प्रारब्ध कहते हैं। 'कर्मसञ्चितम्' में कर्म से ये प्रारब्ध कहे हैं। योनि में उपासना (वासना) और सुख-दुख में कर्म की प्रधानता है। अशुभवासना-शुभ कर्म का संयोग हो तो नीच योनि किन्तु सुखी जीवन मिलता है, वासना शुभ पर कर्म अशुभ हो तो श्रेष्ठ योनि लेकिन दुःखी जीवन मिलता है। सूत्रभाष्य (३.१.२) में आचार्य ने कहा है 'कर्म च निमित्तकारणं देहान्तरारम्भे' कि अगला शरीर बने इसमें कर्म निमित्त पड़ता है। 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः' (ब्र.सू. ३.१.१) में स्पष्ट किया कि नये शरीर के आरम्भक भूत साथ जाते हैं और कर्म भी जाता है। आर्त्तभाग ब्राह्मण (बृ.३.२.१३) में देहान्तरग्रहण में कर्म की प्रधानता स्पष्ट की है। बृहदारण्यक (४.४.५) में 'तद् यथा पेशस्कारी पेशसो मात्राम् अपादाय अन्यद् नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते, एवम् एवाऽयमात्मा इदं शरीरं निहत्य, अविद्यां गमयित्वा, अन्यद् नवतरं रूपं कुरुते' द्वारा स्पष्ट किया कि हमेशा सुलभ महाभूतों से ही देहान्तर बनता है। इसलिये स्थूल देह का उपादान महाभूत एवं निमित्त कर्म हैं यह वेदसम्मत सिद्धान्त है। देहान्तर को जाते समय जीव पुर्यष्टक में महाभूत भी ले जाता है, उन्हीं में और-और भूतांश जोड़कर शरीर रच लेता है। 'जामन' साथ हो तो दूध से दही बनाया जा सकता है, अन्यथा दूध होने पर भी दही नहीं बनता वैसे पुर्यष्टक में गये भूत अन्य भूतांश जोड़ने में सक्षम बनते हैं।

इस प्रकार स्थूल भूतों से कर्मों द्वारा निर्मित शरीर जीव के लिये भोग करने का उपयुक्त आयतन अर्थात् स्थान है। सुख-दुःख का साक्षात्कार भोग कहा जाता है। शान्ति-उपेक्षा आदि से भी होते सुखादि-अनुभव को ही भोग कहते हैं। विषय-संपर्क के निमित्त हो या विचार, सन्तोष आदि सूक्ष्म निमित्तवश हो, मन में सुख-दुःख के आकार की वृत्ति, बनने पर 'मुझे सुख या दुःख है', 'मैं सुखी या दुःखी हूँ' ऐसा अनुभव भोग है। सत्त्वादि भेद से सुख-वैविध्य प्रसिद्ध है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दुःख भी इसी तरह विविध समझे जा सकते हैं। यद्यपि सभी अप्रियानुभूति दुःख है तथापि निमित्तभेद से स्तर का अंतर हो सकता है। अतएव तृप्तिदीप प्रकरण में भ्रमज और विवेकज भेद से क्लेश दो तरह का कहा (७.१४४-५) है। विवेकज क्लेश को सात्त्विक दुःख माना जा सकता है। विषय, क्रिया आदि से होते को राजस एवं अभावनिमित्तक, सम्भावनामात्र-मूलक अर्थात् काल्पनिक तथा कारण-निर्णय के बिना होता अवसाद आदि तामस दुःख समझा जा सकता है। सात्त्विकता या तामसता दुःख में नहीं उसके निमित्त में है, यह तो स्मरण रखना ही होगा। जीव सुखादि कर्मफलभोग करे इसीलिये जन्म मिलता है। जब तक स्थूल शरीर से तादात्म्य व्यक्त न हो तब तक कोई भोग सम्भव नहीं। अतएव सुषुप्ति में आत्मानन्द का ही आस्वादन है, भोगरूप सुख नहीं। इसी से अनेक वादी सुषुप्ति में सुखानुभव नकारते हैं। जैसा सुख जाग्रत्-स्वप्न में अनुभूत है, हमें समझ आया हुआ है वैसा सुख सुषुप्ति में नहीं यह तो निर्विवाद है। 'सुख से सोया' यह अबाधित स्मृति और पुनः सोने के प्रति आकर्षण से निश्चित है कि सुषुप्ति में अनुभव आनन्द का है, उसे सुख कहें चाहे न कहें इससे अन्तर नहीं। सुषुप्ति में स्थूल से तादात्म्य न रहते भोग नहीं, जाग्रत् में तादात्म्य रहते भोग है, इससे पता चल जाता है कि भोग के लिये स्थूलतादात्म्य अनिवार्य है। जहाँ तादात्म्यापन्न हुआ प्रत्यगात्मा भोग कर सकता है उस उपाधि को स्थूल शरीर कहते हैं।

'भोगायतन' अर्थात् भोग सम्भव बनाने वाली जगह। अनुकूलता-प्रतिकूलता के निर्धारण में स्थूल शरीर का बड़ा महत्त्व है, गाय को हरी घास, बाघ को बकरी, मनुष्य को पक्वान्न, पक्षियों को फल, भ्रमरों को फूल इत्यादि ही अनुकूल लगेंगे; बाघ को घास और गाय को बकरी अनुकूल नहीं लगेंगे। ऐसे ही प्रतिकूलता में है। यद्यपि एक योनि में रुचिभेद हो सकता है, व्यक्ति की रुचि बदल सकती है तथापि स्थूल शरीर से सर्वथा निरपेक्ष होकर रुचि या अनुकूलता का निर्धारण नहीं होता। जब तक स्थूल देह 'धारण' नहीं किया जाता, उसमें तादात्म्य स्थापित नहीं होता, तब तक जीव का जो यातायात चलता है, आतिवाहिक में रहकर गमन-आगमन की प्रक्रिया चलती है वहाँ उसे कोई भोग नहीं होता। अतः देवादि लोकों से लौटते हुए अन्न के साथ कुटते-पिसते-पकते हुए भी यात्रीभूत जीव को दुःख नहीं होता, उसे तो भोगायतन मिलने के बाद ही दुःख सम्भव होगा। यही स्थिति सुख की है। शरीर कर्मसाधन भी है, जीव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कोई कर्म तभी कर सकता है जब शरीर में हो, फिर भी शरीर भोगायतन कहलाता है क्योंकि यदि अपाहिज, रुग्ण आदि शरीर है तो कर्म न करने पर भी भोग तो करता ही है। यदि शास्त्रीय क्रियाकलाप को ही कर्म कहें तो गैर मनुष्य योनियाँ आदि कर्म करते नहीं पर भोगते हैं ही, इसी से उन्हें भोगयोनियाँ कहा जाता है। इस तरह कर्म-स्थूल देह के सम्बन्ध की अपेक्षा भोग-स्थूल देह का सम्बन्ध व्यापक है जिससे कर्मायतन के बजाये इसे भोगायतन कहते हैं। मनु (१.९८) आदि ब्राह्मण को धर्म सम्पादन के लिये उत्पन्न कहते हैं किन्तु वह कर्त्तव्य बोधनार्थ है, उस शरीर को कर्मायतन कहने के लिये नहीं।

दुःखानुभव भी भोग है तथापि जीव स्वेच्छा से सुखानुभवरूप भोग ही चाहता है किन्तु भ्रमादिवश सुखलाभ के उपाय न कर दुःखप्राप्ति के उपाय करते रहने से दुःख भोगता है। पुण्य से ही सुख होता है, पाप दुःख ही देता है फिर भी मनुष्य सुखभ्रम में पापाचार कर दुःख उत्पन्न करता है। विवेकपूर्ण प्रयास सुख दे सकते हैं लेकिन अविवेक से भी असंख्य लौकिक दुःख मनुष्य अपने लिये सम्पन्न करता है। वैज्ञानिक तकनीकों का अविवेकपूर्ण उपयोग स्पष्ट ऐसा उदाहरण है। सामाजिक मर्यादाओं का उन्मूलन भी निकट भूत में सायास मानव ने सम्पन्न किया और उससे स्वयं क्लेश-लाभ पाने लगा है। दैनिक जीवनक्रम में अत्यधिक सुविधाभोग किया और शरीर-मन विकृत किया, यह भी ऐसी ही स्थिति है। पाप-बहुल प्रारब्ध से दुःख अनिवार्य है अतः विचार-दिशा भी सदोष होती है, यह सैद्धान्तिक पक्ष है ही। 'सुखदुःखानाम्' में सुखादिव्यक्तिभेद से बहुवचन है। अथवा, सुख-दुःख के मिश्रण के, काम-क्रोध-दम्भादि के अनुभवों का भी संग्रह बहूक्ति से सम्भव है। कामादि अनुभव स्वयं में सुख-दुःख की श्रेणी में नहीं आते फिर भी भोग कहे जा ही सकते हैं। सुषुप्ति के आनन्दानुभव को भी ग्रहण करना चाहिये, वह भी स्थूल में रहते ही जीव को मिलता है।

भोगायतन स्थूल शरीर भौतिक और जन्य तथा दृश्यादि होने से व्यावृत्त अतः अनात्मा ही है, इस विवेक को प्राप्त करने के लिए विचार में प्रवृत्त हों यह इस प्रसंग का अभिप्राय है।।११।।

जिसके जन्मादि स्वयं में भासने से नित्यमुक्तता सम्भावित नहीं उस स्थूलोपाधि को अनात्मा बताकर जिसके कर्तृत्व-दुःखित्वादि स्वयं में भासने से नित्यमुक्तता सम्भव नहीं उस सूक्ष्मोपाधि का वर्णन करते हैं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पञ्चप्राणमनोबुद्धि-दशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥१२॥

पाँच प्राण, मन, बुद्धि और दस इन्द्रियों से युक्त जो अपंचीकृत महाभूतों से बना सूक्ष्म शरीर है वह प्रत्यगात्मा के भोगों का साधन है।

अन्नमय भोग के लिये स्थान है जबकि भोग के लिये साधन है सूक्ष्म शरीर जिसमें प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय तीन कोश हैं। इसके अवयव बहिरिन्द्रिय-ग्राह्य न होने से इसे सूक्ष्म अंगों वाला कहा। इसी को लिंग शरीर भी कहते हैं क्योंकि स्थूल में जीवात्मा की उपस्थिति में यही चिह्न है। जो हमें स्थूल शरीर में इन्द्रिय, मस्तिष्क आदि दीखते हैं ये 'गोलक' अर्थात् इन्द्रियों के कार्य करने के स्थल हैं, ये इन्द्रियाँ नहीं। इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं, मन, प्राण भी अतीन्द्रिय हैं। चलती साँस ही प्राण नहीं, जो सामर्थ्य इसे ले-छोड़ रही है तथा अन्य प्राणकार्य कर रही है उसे प्राण कहते हैं जो सूक्ष्म है, इन्द्रियों से पता नहीं चलता, देह की क्रियाओं से समझा ही जाता है। सारा ही सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म अर्थात् जो पंचीकृत नहीं किये गये उन महाभूतों से बना है। यह जीव के साथ जन्म-जन्मान्तर में जाता रहता है, मोक्ष में ही इसकी सर्वथा समाप्ति होती है। सुषुप्ति, प्रलय में यह लीन हुआ कारणरूप से बना रहता है अत: फिर-फिर प्रकट हो जाता है। इस दृष्टि से इससे जीव का बन्धन दृढतर है, दीर्घ है। स्थूल देह तो हर जन्म में छूटता है, यह छूटता ही नहीं इसलिये इससे स्वयं को पृथक् जान पाना अतिकठिन है। संसारहेतुभूत बन्धकों में आचार्यों ने इसीलिये 'अहंकार' को प्रथम गिना। अहंकार सूक्ष्म देह का ही भाग है, प्रकृत श्लोक में बुद्धि से संगृहीत है।

सूक्ष्म शरीर त्रिकोशात्मक है जिनमें अन्नमय से अगला होने के कारण प्राणमय प्रथम है। क्रिया की शक्ति जहाँ निहित वह सूक्ष्म वस्तु प्राण है। इसे जीवनी शक्ति भी कहते हैं, इसे ही धारण करने से आत्मा जीव कहलाता है। प्राण भी उत्पन्न होता है सृष्टिकाल में, जैसे इन्द्रियाँ। 'एतस्माज्जायते प्राणो मन: सर्वेन्द्रियाणि च' (मुं. २.१.३), 'स प्राणमसृजत' (प्र. ६.४) आदि श्रुतियाँ यह बताती हैं। अन्य कोई सूक्ष्म भाग कार्य करे इससे पूर्व ही प्राण प्रभावी होता है, शुक्र में ही गति रहती है जिससे वह शोणितयुक्त होता है, अत: उसे अन्यों से ज्येष्ठ कहा गया है। वायु को या इन्द्रियकार्यों को ही प्राण नहीं समझ सकते वरन् वायु की शरीर में व्यक्त ऐसी अवस्था जो प्राणन आदि पाँचों कार्य करे, प्राण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कही जाती है। सूत्रभाष्य में (२.४.९) यह स्पष्ट किया है। है यह जीव के सभी सार्थक कार्य करने में उपकरण, मानो उसका मन्त्री हो। सुषुप्ति में इन्द्रियाँ व मन भी निश्चेष्ट हो जाते हैं पर शरीररक्षा करता प्राण जगा रहता है। शरीर-इन्द्रियादिकी पुष्टि प्राण द्वारा ही है। शरीर छोड़ने में भी जीव इसी का सहारा लेता है, यह शरीर छोड़ दे तो जीव उस शरीर में नहीं रहता। इसके विभिन्न प्रधान कार्यों की दृष्टि से इसकी पाँच वृत्तियाँ हैं : १) शरीर से श्वास बाहर सामने की ओर निकालना प्राणवृत्ति का कार्य है। २) श्वास शरीर में अन्दर की ओर लेना, उसे नीचे की ओर ले जाना अपान वृत्तिका कार्य है। ३) अधिक ताकत का कार्य करना, इसके लिये प्राण-अपान की संधि में व्यक्त होना व्यान का कार्य है। ४) शरीर को धरती से विपरीत दिशा में सीधे ताने रखना तथा मरते समय पुर्यष्टक को शरीर से बाहर ले जाना उदान वृत्तिका कार्य है। ५) अन्न के रस को, पोषक तत्त्वों को शरीर में यथावश्यक बराबर पहुँचाते रहना समान वृत्तिका कार्य है। इनके प्रधान स्थान भी बताये जाते हैं—प्राण का हृदय, अपान का गुदा, समान का नाभि, उदान का कण्ठ और व्यान का सारा ही शरीर। इनके अधिष्ठाता देवता भी माने गये हैं—प्राण के देवता का नाम विशिष्ट, अपान के विश्वसृष्ट, व्यान का विश्वयोनि, उदान का अज और समान का जय नामक देवता अधिष्ठातृत्व रखते हैं। समष्टि हिरण्यगर्भरूप से विभु और व्यष्टि देहों में परिच्छिन्न रहने पर भी सूक्ष्म होने से इंद्रियादि की तरह प्राण 'अणु' कहलाते हैं। प्रधान पाँच वृत्तियों से अतिरिक्त पाँच वृत्तियाँ भी कही गयी हैं—नाग नामक वृत्ति हिचकी करती है, कूर्म से पलकें झपकती हैं, कृकल छींक लाती है, जँभाई में हेतु देवदत्त है और मोटापा करने वाली धनंजय है जो मुर्दे तक को नहीं छोड़ती। सभी तरह की क्रिया—चाहे कर्मेंद्रियों में हो, ज्ञानेन्द्रिय में हो, मन में हो या शरीर के खून, मांस, हड्डी आदि में हो—प्राण का ही प्रभाव है। आँख विषय तक 'जाती' हैं—यह ज्ञानेंद्रिय की क्रिया ही है। कल्पना, उपासना आदि मानसिक क्रिया हैं। पाँच या दस तो प्रधानता की दृष्टि से वृत्तियाँ गिन दी जाती हैं। प्राण क्रियाशक्तिरूप होने से प्राणायाम द्वारा क्रियासामर्थ्य में अभिवर्द्धन योगी आदि में देखा ही जाता है। प्राण का मन से भी घनिष्ठ संबंध है अतः प्राणनिरोध से मनोनिरोध में अत्यन्त सहायता मिलती है। धारणा-ध्यानादि से पूर्व योगांगों में इसीलिये प्राणायाम गिना गया है। सामान्यतः भी कुछ देर प्राणायाम कर तब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ध्यान-प्रयास करें तो मन शीघ्र स्थिर होता है। सारे शरीर को पुष्ट, निर्दोष करने में भी प्राणायाम उपयोगी है क्योंकि इससे सभी अंगों में सूक्ष्म क्रिया सम्पन्न हो जाती है जो साधारणतः हो नहीं पाती। बाकी ज्ञान-क्रियाएँ न होने पर भी प्राण रहते जीव की उपस्थिति स्पष्ट है अतः वनस्पतियाँ भी प्राणी हैं, जीव हैं। ईसाई आदि प्राण की उपस्थिति से जीवात्मा की उपस्थिति नहीं मानते, यहाँ तक कि अमनुष्यों में—पशु, पक्षी, कीट आदि में—वे जीव नहीं मानते! वैदिक विचार में तो प्राण जीव की उपस्थिति का मुख्य चिह्न है अतः जीवदृष्ट्या इसकी ही प्रधानता है। लोक में भी प्राण रहते मरा नहीं मानते तथा प्राण बचाने के लिये अन्य सामर्थ्य प्रतिबद्ध भी होने देते हैं। इससे भी जीव का प्राण के प्रति पक्षपात स्पष्ट है। अतः यहाँ सूक्ष्म शरीर के घटकों की गणना प्राण से शुरू की।

सूक्ष्मांग या लिंग देह की दूसरी वृत्ति कही मन। पाँचों भूतों के सत्त्वांश से अन्तःकरण सम्पन्न होने से यह पाँचों को ग्रहण करता है। अन्तःकरण की विभिन्न वृत्तियाँ हैं, विभिन्न बर्त्ताव हैं, जिनका एक तरह का वर्गीकरण करते हैं तो चार विभाग स्पष्ट होते हैं—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। अन्य वृत्तियों को इन्हीं में इकट्ठा कर लेते हैं, अन्यथा तो श्रुति ने 'अनन्तं वै मनः' कहा ही है। इसी तरह चित्त व अहंकार को भी मन व बुद्धि में इकट्ठा करें तो दो वृत्तियाँ, दो वर्ग भी संगत हैं जैसे प्रस्तुत श्लोक में। तात्पर्य तो अन्तःकरण से है, वृत्ति नाम उसे अनुभवारूढ करने के लिये है। वास्तव में तो यहाँ आचार्य ने एक 'सूक्ष्मांग' का ही कथन किया है, प्राण-मन-इन्द्रियाँ उसकी ही वृत्तियाँ, व्यापार, बर्त्ताव के रूप में उपस्थित हैं। 'समन्वितम्' से इन सब को पृथक् तत्त्व नहीं कह रहे जिनसे जुड़े समुदाय को सूक्ष्मांग बताना हो वरन् एक ही सूक्ष्मांग इन कार्यों, प्रभावों के रूप में अनुभव में आता है, समझा जाता है, यह बता रहे हैं। सूक्ष्म को समझने के लिये स्थूल का सहारा चाहिये, प्राण-मन-इन्द्रियों के प्रभाव (व्यापार) 'प्रकट' होने से स्थूल श्रेणि के हैं जिनसे उन्हें सम्पन्न करने वाले को सूक्ष्म शरीर समझा जा सकता है। प्राण की श्रेष्ठता-ज्येष्ठता और बाकी का उससे घटकर महत्त्व तथा कनिष्ठता भी तभी संगत है। गोलक निष्पन्न होने पर बाकी वृत्तियाँ कार्यकारी होती हैं, प्राण पहले ही कार्यकारी हो जाता है, यदि सभी के 'मिलने' से सूक्ष्म शरीर कहलाये तब तो जब तक केवल प्राण कार्य करता है तब तक सूक्ष्म देह ही नहीं रहेगा! ऐसे ही कुछ इन्द्रियाँ अप्रकट रह जायें, जैसे जन्मान्ध, जन्म से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बहरे-गूँगे आदि में, तो भी सूक्ष्म देह नहीं कहलायेगा! इसलिये चाहे प्राण हो या मन, इन्द्रियाँ, सभी जिसकी वृत्तियाँ हैं वह सूक्ष्म शरीर है, उसकी ही श्रेष्ठ-ज्येष्ठ वृत्ति प्राण है, इतना ही माना जा सकता है।

यहाँ मन-बुद्धि से सारे अंत:करण का संग्रह है। संकल्परूप वृत्ति मन और निश्चयरूप वृत्ति बुद्धि कहलाती है। एक ही पक्ष, विकल्प भासे तब निश्चय तथा पक्षांतर, विकल्पांतर की सम्भावना रहे तब संकल्प है। प्राय: तो पक्षांतर भी स्तरभेद से, प्राधान्यभेद से भासें तब संकल्प कहते हैं लेकिन यदि पक्षांतर को ग्रहण करने में मनाही का भाव न हो तो भी संकल्प कह सकते हैं। 'ऐसा ही करूँगा' इत्यादि प्रयोगों में तो निश्चयार्थ में ही संकल्प कहते हैं। जहाँ 'ही'-का भाव न हो वहाँ के लिये संकल्प कहते हुए जो वृत्ति वह मन है। तैत्तिरीय में इसे वेदरूप समझाया। वेदसंस्कार ही निश्चयरूप बुद्धि सम्भव करते हैं क्योंकि अप्रमाणता का उसमें कारण नहीं। अन्य ज्ञानसाधन अप्रमाण होना सम्भव हैं, अनेक तरह से बाधित होते मिलते हैं अत: उनसे निश्चय न हो केवल उत्कट सम्भावना ही रहती है, वे सम्भावनाएँ मन का ही स्तर है, उन्हें मनोमय में घटक नहीं कहा क्योंकि अस्थायी, होती-हटती रहती हैं। बृहदारण्यक में कामादि विभिन्न वृत्तियाँ मन बतायी गयी हैं, वहाँ मन से अन्त:करण कहा है। वहाँ स्पष्ट ही संकल्प से पृथक् विचिकित्सा कही। सफेद-नीला आदि रूप से उपस्थित विषय को विभिन्न दृष्टियों से समझने को संकल्प और संशय को विचिकित्सा कहा है। 'धी:' से वहाँ बुद्धि समझी जा सकती है। भाष्य में वहाँ धी का प्रज्ञा अर्थ कहा है। मन-बुद्धि दोनों कह देने से सभी मनोवृत्तियों का संग्रह हो जाता है। इसलिये प्रकृत श्लोक में दोनों कहकर अंत:करण को लिंगभाग बताया। ज्ञानशक्ति के विकासों का साधारण कारण, जिसके निमित्त सभी अनुभव होते हैं, अन्त:करण (मन-बुद्धि) कहा जाता है। विवेक अर्थात् सही-गलत की पहचान उसी से सम्भव है। विषयादि से ठीक व्यवहार कर सकें इसके लिये इन्द्रियाँ मन पर निर्भर हैं, मन व्यस्त हो तो इन्द्रियाँ अपने कार्य सही ढंग से नहीं कर पातीं। इन्द्रियों सहित या उनके द्वारा मन भी विषयों को ग्रहण करता है, उनका आकार लेता है। सभी भोगरूप अनुभव मन में ही रहते हैं। सूक्ष्म, अमौजूद, छिपे तथ्य भी समझना इसकी विशेषता होने से इसे 'दैव चक्षु:' कहते हैं। विचार-दृष्टि से तो सारा द्वैत मन का ही स्पन्दन है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनोमय से भीतरी है विज्ञानमय जिसे बुद्धि कहकर सूचित किया। संकल्प से निश्चय बनता है यह व्यवहारसिद्ध मनोव्यवस्था है। कामना भी संकल्पमूलक मानी गयी है। सामान्य के प्रति इच्छा ही जब विशेष पर केन्द्रित हो तब कामना है : 'कुछ खाऊँ' इच्छा है, 'बाग बाजार का रसगुल्ला खाऊँ' कामना है। इच्छा मन से और कामना बुद्धि से समझ लेनी चाहिये। अन्य वृत्तियाँ भी इसी तरह इन श्रेणियों में बँट जायेंगी। विज्ञानमय को भाष्यकार ने समझाया है कि प्रमाणरूप निश्चयात्मक अनुभवों से सम्पन्न मनोदशा है। तैत्तिरीयक्रमानुसार मनोमय वेदरूप है अत: उसी प्रमाण से जो मानसिकता तैयार हो वह विज्ञानमय है। इसीलिये इसका स्वरूप श्रद्धादि कहा। सत्य को धारण करने वाली श्रद्धा है जो गीतानुसार मनुष्य का व्यक्तित्व निर्धारित करती है। यज्ञ के विस्तार में विज्ञानमय प्रवृत्त होता है। यज्ञ अर्थात् देवाराधना श्रद्धाप्रेरित ही है। बृहदारण्यक में उपलब्ध वर्णन से पता चलता है कि उपास्य को देवता कह देते हैं, इसीलिये काममय पुरुष के लिये स्त्रियाँ देवता हैं (बृ.३.९.११)! श्रद्धा के स्तर से देवता का भी स्तर बदल जाता है। गीता में श्रद्धाभेद-पूज्यभेद का उल्लेख है ही। ऋत-निर्धारण भी श्रद्धानिर्भर है। शास्त्रानुसार अपने कर्त्तव्य को बुद्धि में निर्धारित करना ऋत है तथा उसे सम्पादित करना, व्यवहार में लाना सत्य है। श्रद्धानुसार ही मनुष्य कर्त्तव्य स्वीकारता है, केवल विधान से तो उसपर कर्त्तव्य 'लादा' भले ही जाये, वह उसे 'स्वीकारे' यह जरूरी नहीं। यद्यपि यों सत्य क्रियाकलापरूप है तथापि विज्ञानमय का ही भाग है। प्रामाणिक कर्त्तव्य सम्पन्न करने के तरीके खोजकर उन्हें काम में लेना ताकि कर्त्तव्य-निर्वाह होवे एवं एतदर्थ एकाग्रता—इन दोनों को मिलाकर 'योग' कहते हैं जिससे ही श्रद्धादि सार्थक होते हैं अत: विज्ञानमय का यह अत्यावश्यक धड़स्थानीय घटक है। प्रतिष्ठित है विज्ञानमय अपने कारणरूप 'महः' अर्थात् समष्टि सूक्ष्म में। वेदांतानुसार, कारण कार्यापेक्षया सूक्ष्म और व्यापक होता है एवं कार्य की प्रगति की दिशा कारण की ओर होती है। विज्ञानमय का अध्यात्मरूप व्यष्टि है एवं कारणरूप समष्टि है। विज्ञानमय का पूर्ण विकास यही है कि वह समष्टि ही रह जाये। कर्त्तव्यों का सम्बन्ध केवल व्यष्टि से नहीं, समष्टि से भी है, समष्टि के प्रयोजन से उन्हें सम्पन्न किया जाता है। काम्य कर्म व्यष्टिप्रधान किन्तु कर्त्तव्य कर्म समष्टिप्रधान होते हैं। इसलिये, 'महः' में प्रतिष्ठा हो तभी ऋत को सत्यरूप में लाया जायेगा। बुद्धि है निश्चय का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नाम। पक्षान्तर अनुपस्थित होना ही इसमें पर्याप्त नहीं वरन् पक्षान्तर की असंभवता समझी जाये तब निश्चय कहना संगत है। केनोपनिषत् में, निश्चय पाया शिष्य गुरुद्वारा सायास भी उससे डिगाया न जा सका—ऐसा वर्णन इसके स्वरूप को स्पष्ट करता है। सभी विषयों के ज्ञान भी बुद्धि कहलाते हैं। निश्चय विचाराधारित अतः सात्त्विक है जब कि इस जैसा लगता हठ अविचाराधारित अतः तामस है। निश्चयी अन्यों को भी निश्चयी बनाना चाहता है, निश्चयी होने को सही स्वीकारता है जब कि हठी अन्यों को हठी नहीं बनाना चाहता, हठी होना अच्छा नहीं मानता, स्वयं के ही हठ को उचित करार देता है, अन्यों की निष्ठा को भी हठ करार देकर गलत घोषित करता है। निश्चयी अपने निश्चय पर शंका उठाना वाजिब मानता है, समाधान के लिये तत्पर होता है, हठी शंका को ही चुनौती देता है, समाधान के लिये कोई प्रवृत्ति नहीं करता। निश्चय गलत भले ही हो लेकिन निर्भर रहता है प्रमाण और विचार पर। अतः प्रमाणादि के दोष समझते ही निश्चय परिवर्तित होता है। गीता में 'सम्यग्व्यवसाय' से यह समझाया है। हठ वह जहाँ प्रमाणादि के दोष दीखने पर भी उसे छोड़ा न जाये, छोड़ना कठिन या बुरा लगे। इसीलिये माना जाता है कि बुद्धि की विशेषता है 'अनाग्रह'। निश्चय, निष्ठा को आग्रह नहीं कहते क्योंकि प्रमाण-युक्ति पर आधारित है। एकप्रकारता, अवधारणात्मकता ही आग्रह नहीं वरन् वह जब अप्रामाणिक, अविचारित हो तब आग्रह है। सही होने पर भी आग्रह को निश्चय नहीं कह सकते क्योंकि उसकी नींव तामस ही है! मन क्योंकि प्रमाण घटित है इसलिये बुद्धि प्रमारूप होती है।

भगवान् ने बुद्धि के गुणभेद से भेद कहे हैं : बन्ध, बन्ध-हेतु, अभ्युदय और उसका हेतु, मोक्ष एवं उसका हेतु—इन अतिप्रधान बातों को (एवं उपलक्षणा से सभी सही-गलत, योग्य-अयोग्यों को) जो जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है। धर्म-अधर्म आदि कर्त्तव्यविषयक सही निर्णय न लेने वाली बुद्धि राजसी है। इन विषयों में एवं अन्य भी सन्दर्भों में उल्टा ही निश्चय करने वाली बुद्धि तामसी है। 'बुद्धि' का अर्थ ज्ञान समझें तो भी गीता में इसका त्रैविध्य कहा है- चाहे जितने भेद प्रतीत हों, सबमें जो एक भाव या वास्तविक तत्त्व है उसे देखने वाला ज्ञान सात्त्विक, चीज़ों के भेदों का सही आकलन करने वाला राजस और अवास्तविक अपूर्ण को बिना युक्ति के भी पूर्ण ही समझता हुआ ज्ञान तामस है। यह त्रैविध्य अंतःकरण स्तर का ही है, ऐन्द्रिय स्तर के ज्ञान का नहीं; इन्द्रियाँ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तो दोष न होने पर विषय-सम्बन्धी सूचना यथावत् देती हैं पर मन के गुणों के कारण ज्ञान विभिन्न हो जाता है। इन्द्रियों में गुणभेद है पर उससे उनका विषयचयन प्रभावित होता है न कि ज्ञान या ग्रहण। अहंकार भी एक भ्रान्त निश्चय होने से बुद्धि में गृहीत है। इसके भी भेद बताये हैं—धैर्य व उत्साह से सम्पन्न अनासक्त, सफलता-विफलता से अप्रभावित रहने वाला निरभिमान कर्त्ता (अहंकार) सात्त्विक है। राग-लोभ-हिंसा-हर्ष-शोक आदि वाला राजस एवं अनेकाग्र, अशिक्षित, उद्दण्ड, ठग, स्वार्थी, आलसी, अवसादग्रस्त, मन्दगति से प्रयास करने वाला, अहंकार (कर्त्ता) तामस है। चित्त तो संस्कार-ग्राहक भाग है अतः प्रत्येक ज्ञान व क्रिया की वासना बटोरने वाला होने से मन में गिना जाता है तथा उसी से चित्त के भी त्रैविध्य की कल्पना हो जाती है। इस प्रकार मन-बुद्धि के ग्रहण से सारा अन्तःकरण बता दिया।

सूक्ष्मांग के अन्य भाग हैं इन्द्रियाँ। सूत्रभाष्य में साधारण परिचय दिया है 'यदेव हि उपलब्धिसाधनं, वृत्तिः अन्यद् वा, तस्यैव नः करणत्वम्' अर्थात् विषयग्रहण का साधन होना इन्द्रियों की विशेषता है। सूक्ष्मभूत के कार्य होने से ये सूक्ष्म, अतीन्द्रिय हैं तथा प्रतिप्राणि भिन्न होने से परिच्छिन्न हैं, व्यापक नहीं। देह में ये कार्यकारी तब होती हैं जब गोलक निष्पन्न हो जायें अतः प्राण की अपेक्षा देर से प्रकट होती हैं। उपनिषदों में बताया है कि मन-समेत इन्द्रियाँ आसक्ति वाली हैं अतः विफल होती हैं, प्राण ही अनासक्त अतः अपने कर्त्तव्यनिर्वाह में सफल है। ये भले ही जीव को पकड़ें अर्थात् 'ग्रह' बनें लेकिन इन्हें भी विषय पकड़ लेते हैं अर्थात् 'अतिग्रह' बन जाते हैं जिससे जीव तो दुःख पाता ही है, इन्द्रियाँ भी व्याकुल रहती हैं। यद्यपि देवता ही इन्द्रियाँ बनकर शरीरस्थ गोलकों में प्रवेश करते हैं तथापि परिच्छिन्न अभिमान आते ही स्वार्थग्रस्त होने से विजय में अक्षम हो जाते हैं। इन्द्रियों की वास्तव में सामर्थ्य परमेश्वर ही है, अतः श्रोत्र का श्रोत्र आदि उसे कहा, लेकिन भूतों व देवताओं के द्वारा होने से जीवस्तर के विकार इन्द्रियों में उपस्थित हो जाते है। रथ को रूपक बनाकर बताते हुए उसे चलाने वाले घोड़ों की जगह इन्द्रियाँ कही हैं जिन्हें वश में रखें तो आराम से यात्रा पूरी हो अन्यथा गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकते। उसी रूपक में मन को लगाम और बुद्धि को सारथि कहा है। इन्द्रिय-दमन की इस महत्ता को नकारकर अध्यात्मसाधना सम्भव नहीं। जैसे भोग के लिये इन्द्रियोपयोग विषयसम्पर्कार्थ आवश्यक वैसे मोक्ष के लिये 'आवृत्तचक्षु' होना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आवश्यक। 'अतिग्रह' के वश में आ जाती हैं तभी इन्द्रियों से विषयों को अधिक महत्त्व का कहा 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः'। जब मन से इन्द्रियाँ दान्त हो जायें तभी अर्थों का बल भी इन्द्रियों को पकड़ने में कम पड़ने से अर्थों से मन परे कहा। इसके उपयुक्त जाग्रद् अवस्था है, यही इन्द्रियों की अवस्था है, इसी में ये अर्थों को मानो खाती हैं।

विषय-व्यवहार के दौरान दमन रहे तभी सार्थक है, केवल एकाग्रावस्था में रहना काफी नहीं। 'भद्र सुनें, देखें' आदि प्रार्थनाएँ अत एव आवश्यक हैं। इसी उद्देश्य से इनके बढ़ने की प्रार्थना 'आप्यायन्तु' आदि की जाती है। उपनिषत् शीर्षस्थ इन्द्रियगोलकों को ऋषिरूप बताकर इनके दमन का भावनात्मक उपाय सुझाती है कि इनसे ऋषियों के योग्य विषय ही ग्रहण किये जायें। आत्मा ने 'अपने' लिये जो 'अन्न' बनाये उनमें 'वाक्' से इन्द्रियाँ समझ लेनी चाहिये। इनकी रचना आत्मलाभ के लिये है, आत्महानि के लिये नहीं। बहिर्मुखता तो आत्मोपलब्धि से वंचित रखने में सक्षम है। कर्मेन्द्रियाँ क्रिया द्वारा विषयों को प्रकट करती हैं अर्थात् कारणस्थ कार्य को व्यक्त करती हैं जबकि ज्ञानेन्द्रियाँ आवृत अर्थों को अनावृत करती हैं। इस तरह विषयाभिव्यक्ति दोनों का समान कार्य है। अतः जैसे श्रोत्र के लिये शब्द अधिभूत है वैसे वाक् के लिये भी, ऐसे ही हाथ-आदि के लिये आदातव्यादि समझ लेने चाहिये। इसीलिये सभी को इन्द्रिय-शब्द से कहते हैं तथा यहाँ पाँच-पाँच का भेद न कर मिलाकर दस कह दी हैं। गिनती में तो शास्त्रतात्पर्य नहीं, यह सूत्रभाष्य में समझाया है, पर विषय पाँच ही होने से पाँच का उल्लेख है। किं च यज्ञ की 'पांक्तता' से सम्बन्ध बना रहे इसलिये भी पाँच समझना हितकर है। गीतानुसार मन-बुद्धि की तरह इन्द्रियों में भी कामना रहती है। इसलिये मनःस्थ इच्छा के बिना या उसके विरोध में भी इन्द्रिय अपनी कामना से प्रवृत्त हो सकती है लेकिन क्योंकि विषयग्रहण में इन्द्रियाँ मनोनिर्भर हैं इसलिये मन यदि इन्द्रियविमुख हो जाये तो उनका विषयग्रहण का प्रयास विफल हो जाता है। अन्यत्रमना जैसे देखता-सुनता नहीं वैसे परमात्मा में एकाग्रमना भी इन्द्रिय-विषय के सम्पर्क के बावजूद विषयग्रहण नहीं करता। इसी से शम सहायता देता है दम के लिये। दमन द्वारा इन्द्रिय-दौर्बल्य इष्ट नहीं वरन् उनका सदुपयोग करना, दुरुपयोग न करना इष्ट है। जैसे सांसारिक प्रगति के लिये वैसे अध्यात्म-साधना के लिये इन्द्रियाँ उपयोगी हैं, उस उपयोग में लें यह ज़रूरी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राण-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ ये सभी व्यवस्थितरूप से एक भोक्ता जीव के लिये साधन बनें तब सूक्ष्मशरीररूप उपाधि कहलाते हैं। इस उपाधि से स्वयं को पृथक् जानना त्वमर्थशोधन के लिये अनिवार्य है॥१२॥

आत्मबोध का विधान करने पर देहादि अनेक आत्मा प्रतीत होते किस आत्मा का बोध अपेक्षित है यह प्रश्न उठा तो जो हैं अनात्मा पर उनमें आत्मता का भ्रम होता है उन उपाधि कहलाते शरीरों का उल्लेख किया। भौतिक अत: जन्य स्थूल व सूक्ष्म उपाधियाँ बता चुके, अब कारणरूप उपाधि समझाते हैं। शरीरों के साक्षात् कारण महाभूत हैं लेकिन उनसे शरीरों की उत्पत्ति अधिक स्पष्ट नहीं एवं वे आत्मबुद्धि के विषय भी बनते नहीं। विराट् का उनमें आत्मभाव होने पर भी त्वम्पदार्थ का आत्मभाव प्रतीत नहीं होता। जिनसे आत्मवस्तु का विवेक करना है ऐसी उपाधियों के प्रसंगानुसार कारण-उपाधि कहते हैं—

अनाद्यविद्याऽनिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते ।
उपाधित्रितयाद् अन्यम् आत्मानम् अवधारयेत् ॥१३॥

अनादि, अनिर्वचनीय अविद्या कारण-उपाधि कहलाती है। तीनों उपाधियों से अन्य आत्मा का निश्चय कर्त्तव्य है।

इन्द्रिय-विषयव्यवहाररूप जाग्रत् में स्थूल शरीर का उपयोग किया जाता है, मनोविलासरूप स्वप्न में शरीरस्थिति ही पर्याप्त है, स्वप्नव्यवहार में स्थूल देह का उपयोग नहीं किया जाता एवं सुषुप्ति में उक्त दोनों शरीर रहना ही ज़रूरी है, दोनों का ही उपयोग नहीं किया जाता। तीनों अवस्थाएँ जीव की हैं तथा तीनों जीव के लिये भी तभी तक उपलब्ध हैं जब तक स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर उपस्थित है, प्राणधारण हो रहा है। जीवित काल में ही तीनों अवस्थाएँ हैं। तीनों अवस्थाओं वाला जीव है अत: ये तीनों उसकी उपाधि के अवान्तर भेद हैं; उपाधि वही है पर उसके संकोच-विस्तार का अन्तर है, पूर्ण विकास में जाग्रत्, कुछ संकोच में स्वप्न और अधिक संकोच में सुषुप्ति है। जाग्रत्-स्वप्न में भोग करने से जीव थकता है क्योंकि ये उसकी अधिक अस्वाभाविक अवस्थाएँ हैं, उपाधि-विस्तार का बोझ अधिक है। ये दोनों होती हैं कर्मफल भोगने के लिये। जीव निरन्तर भोग में अक्षम है अत: उसके विश्राम के लिये बीच-बीच में फलप्रद कर्मों के बिना का काल ईश्वर ने रखा है। अत: उपयोग न होने से एवं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

थका होने से तब अंत:करण अपना कार्यकारी रूप छोड़ देता है एवं अपने कारणरूप से रह जाता है क्योंकि प्रलय पर्यन्त पुनः पुनः प्रकट होना है इसलिये सूक्ष्म या संस्कार रूप से रहता है। तब चेतन को कारण का अनुभव होता है जिसका रूप है 'मैं कुछ नहीं जान रहा', अतः अज्ञान ही कारण है। इस दृष्टि से 'कारणमात्र की उपलब्धि' सुषुप्ति का लक्षण दिया जाता है। वेदान्त सिद्धान्त में अज्ञात आत्मा से अज्ञान को अतिरिक्त नहीं माना जाता, अज्ञात आत्मा ही कारण शरीर है। कारण होने से कार्यदशा में भी रहता ही है पर सुषुप्ति में कार्य लीन होने से इसकी पहचान सरल हो जाती है, यही कारण है यह निर्णय संभव हो जाता है। कारण तीनों अवस्थाओं में रहता है, सूक्ष्म स्वप्न व जाग्रत् दो में रहता है, स्थूल जाग्रत् में रहता है। विवेक, विचार जाग्रत् में ही सम्भव है लेकिन यहाँ अकेला कारण न मिलने से स्पष्ट समझने में मुश्किल होती है अतः सुषुप्ति की स्मृति पर निर्भर होना पड़ता है किंतु इसका यह मतलब नहीं कि जाग्रत् में कारण है नहीं। सुषुप्ति में अनुभूत के आधार पर समझकर जाग्रत् में भी कारण शरीर को, अज्ञान को पहचान सकते हैं। अतः 'निद्रा तत्त्वम् अजानतः' से गौडपादाचार्य ने आत्मतत्त्व से अनभिज्ञ को निद्रा में माना।

स्थूल-सूक्ष्म शरीर उपलब्ध होने से पूर्व और इनके उपलम्भ की समाप्ति पर नियमतः उपलब्ध रहता अज्ञात आत्मा (अज्ञान) इन दोनों का कारण उक्त नियम की अन्यथा अनुपपत्ति से निर्णीत है। 'मैं अज्ञ' यों प्रत्यगात्मा से सम्बद्ध ही भासने वाला अज्ञान अपनी सत्ता में अर्थात् जब तक है तब तक आत्मा के आभास वाला ही सम्भव है। इसी से साभास अज्ञान कारण शरीर प्रसिद्ध है। इसे कारण इसलिये समझते हैं कि दोनों शरीर इसके कार्य हैं तथा इसीलिये यह 'शरीर' भी कहलाता है। विद्या से शीर्ण होने के कारण भी शरीर है, प्रियादिरूप सिर आदि वाला होने से भी शरीर है। इसे सत्-असत्, भिन्न-अभिन्न, सावयव-निरवयव आदि लोकसिद्ध ढंगों से परिभाषित न कर सकने से यह अनिर्वचनीय है। यदि किसी विशेषता के उल्लेख से इसे समझना चाहें तो यह है कि ब्रह्मज्ञान ही इसका समापन करता है। जिससे यह बाधित, निवृत्त होता है वह तो निश्चित सच्चिदानन्द-स्वरूप वाला है किन्तु हटने वाला अज्ञान निर्वचन के योग्य नहीं। कोशक्रम में इसे आनन्दमय एवं भोक्ता कहते हैं। भोग कहाँ - कैसे? के उत्तर में तो उभय शरीर प्रतीत होते हैं पर भोग किसे? के उत्तर में हम स्वयं का तो उल्लेख करते हैं किन्तु उस स्वयं की, मैं की वास्तविकता से अनभिज्ञता भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकट करते हैं अर्थात् 'अज्ञात मैं' को ही भोक्ता बताते हैं जिससे अज्ञान को या आनन्दमय को भोक्ता कहा है।

कर्म और उपासना के फलस्वरूप अनुकूल अनुभव लोक में आनन्द कहलाता है, आनन्द के आकार का होने से इसे आनन्दमय कहते हैं एवं केवल भोक्ता के लिये होने से यह कोशों में सबसे अन्तरंग है। यद्यपि जाग्रत् एवं स्वप्न में ही प्राय: आनन्द होते हैं और उनके लिये विज्ञानमय या बुद्धि उपस्थित चाहिये रहती है, अन्यत्रमना आदि होने पर लौकिक भी सुख नहीं होता, एवं च प्रिय आदि आनन्दभेद अन्त:करण-वृत्तिरूप प्रसिद्ध हैं तथापि अन्त:करण अज्ञानकार्य होने से इन्हें कारणशरीर के अन्तर्गत समझा जाता हैं अर्थात् मन जो सुखादि आकार लेता है वह मन की विशेषता नहीं वरन् उसके कारण अज्ञान की विशेषता है जैसे चमकना गहने की नहीं, सोने की विशेषता है, चाहे 'गहना चमक रहा है' ऐसा कहा जाता है। सुषुप्ति में अन्त:करण के बिना भी आनन्द रहता है इसलिये इसे मन की विशेषता मान नहीं सकते। विवरणकारादि आचार्यों ने सुषुप्ति में तीन वृत्तियाँ बतायी हैं—साक्षी के आकार की, सुख के आकार की और अवस्था ज्ञान के आकार की। जो अज्ञान सुषुप्ति में सुखाकार वृत्ति वाला होता है वही जाग्रत् व स्वप्न में भी होता है भले ही तब वह अन्त:करणाकार में हो।

प्रियादि सुखभेद विषयसम्बन्धों पर निर्भर हैं एवं वे सम्बन्ध मन आदि पर निर्भर हैं इसलिये जाग्रदादि में मनोऽवस्थ (मन की अवस्था को प्राप्त) अज्ञान ही विभिन्न वृत्तियाँ बनाये यह समीचीन ही है। इच्छा का विषय इष्ट होता है, उसका दर्शन आदि ज्ञान होने पर हुई अनुभूति प्रिय कहलाती है जो सुख की पहली दशा है। अपरोक्ष योग्य विषय का प्रत्यक्ष होने पर एवं परोक्षोचित विषय का परोक्ष भी ज्ञान होने पर प्रिय-नामक सुख होता है। दूर देश में पत्नी का प्रसव होने पर पिता को सूचना ही मिलती है कि पुत्रादि हुआ तो भी प्रिय-नामक सुख है अत: परोक्ष-ज्ञान से भी प्रिय हो जाता है। अनेक सुख तो प्रिय स्तर पर ही रह जाते हैं, वस्तु आदि जान ली, इससे अधिक उनसे सम्पर्क का अवसर ही नहीं मिलता! बड़ी सम्पत्ति, अधिक धन आदि साधारणत: जानने से ज़्यादा भोगे नहीं जाते। अपने पास अत्यधिक शक्ति हो जाये तो उसे भी काम में लेना सम्भव नहीं होता, उसकी जानकारी ही जो दे वह सुख बना रहता है। इस दृष्टि से इसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आनन्दमय का सिर कहा, यह प्रधान है, अधिकतर सुख इसी से पहचाना जाता है। सुषुप्ति का आकर्षण भी प्रिय के लिये है, उस अवस्था में प्रिय-ज्ञान होता है। अतः प्रियालिंगन की दशा को सुषुप्ति में उदाहरण दिया है। इष्ट का लाभ होने से होता हर्ष मोद-नामक सुख आनन्दमय का दायाँ भाग है। लाभ अर्थात् इष्ट पर स्वत्व सम्पन्न होना, इष्ट स्वायत्त होना, अपना उसपर अधिकार होना, उसके विनियोग में स्वातन्त्र्य होना। प्रिय की अपेक्षा मोद में सुखरूपता की अभिव्यक्ति अधिक है, 'मैं सुखी' यह अभिमान है। प्रिय में तात्कालिकता ही है, मोद में स्थायिता है अतः प्रिय में सुखानुभव होने पर भी सुखी–यह अभिमान नहीं होता, मोद में होता है। रास्ते चलते किसी बगीचे में सुन्दर फूल खिला देखने से प्रिय है पर वह मिलने पर मोद है जो दो-चार घण्टे फूल बिना देखे भी रहता है। उपभोग आदि से प्रिय का 'प्रकर्ष' होने पर प्रमोद है जो आनन्दमय का बाँयाँ भाग है। प्रकर्ष अर्थात् संवर्द्धन, घनीभाव। प्रिय से सीधे प्रमोद तक नहीं पहुँचते क्योंकि उपभोगादि के लिये लाभ आवश्यक है, चाहे वह सोपाधिक ही हो अर्थात् देश-काल-निमित्त पर निर्भर ही हो। जैसे, जब तक बगीचे में खड़े रहे तब तक फूल छू-सूँघ आदि सकते हैं या इतने घण्टों तक कोई दर्शन-श्रवणादि कर सकते हैं या धन-पद-बल आदि निमित्त से उपभोग कर सकते हैं।

उपभोग 'आदि' इसलिये कि कुछ क्रियाएँ भी सुखद हैं। अपने हाथों से गाड़ी-जहाज आदि चलाना, पैरों से चलना, दौड़ना, वाणी से बोलना, पुत्रादि उत्पन्न करना, अवरुद्ध मल आदि निकालना—सभी क्रियायें सुख देती हैं। भोग तो ज्ञानरूप है अतः आदि से इन्हें कहा। इसी प्रकार इष्ट-सम्पर्क की कल्पना भी सुखद होती है, वह प्रमोद है। यह तामस भी सम्भव है, सात्त्विक भी। भक्तों को ऐसा सात्त्विक प्रमोद मिलता है। कल्पना, ध्यान भी क्रिया में गिने जा सकते हैं पर स्थूल-सूक्ष्म का अन्तर है ही। प्रियादि तीनों में समानता है, जिसकी बढ़ोतरी से प्रिय-मोद में, मोद-प्रमोद में अन्तर पता चलता है उस सुख-सामान्य को 'आनन्द'-नामक धड़, आनन्दमय का मध्य भाग कहा है। केवल प्रिय या केवल मोदादि यह नहीं; प्रिय के रूप में 'जो' उत्पन्न हुआ, मोद रूप में विकसित हुआ, प्रमोद रूप से प्रौढ़ हुआ उसे आनन्द कहते हैं। इसी को विषयसुख कहा जाता है।

विषय यद्यपि असत्-जड-दुःखरूप ही है, सुख का उत्पादक नहीं हो सकता तथापि किसी तरह सुख-प्राकट्य में निमित्त बनता है अतः सुख के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उससे विशेषित करते हैं। विषय की इच्छा विषय-ज्ञानादि से क्षीण या निवृत्त होने पर मन आत्माभिमुख होता है तो आत्मस्वरूप सुख ग्रहण होता है; इच्छाक्षय द्वारा इसमें निमित्त बनने से इस सुख को विषयसुख कहा जाता है। इस सुख की उत्पत्ति, धड़रूप आनन्द की उत्पत्ति पुण्यकर्म की फलोन्मुखता से ही होती है। विषय-सुख भी होता पुण्य से ही है। जिसके शुभकर्म फल न दे रहे हों वह प्रिय-मोद-प्रमोद से वंचित रहता है। जब वे फलीभूत होते हैं तभी उक्त तीनों में से कोई सुख सम्भव है। यद्यपि सुख है आत्मस्वरूप तथापि अज्ञानी, बद्ध जीव को भासता, प्रतीत तभी होता है जब अन्त:करण की 'सुख'-आकार की वृत्ति बने। अत: दु:ख शोक आदि में निमग्न मन को इष्ट के दर्शन-लाभ-उपभोग से भी सुख सम्भव नहीं : जिसका युवा पुत्र अभी-अभी मरा हो उसे उसकी पसंद की मिठाई मुँह में डालने से भी कोई सुख हो नहीं सकता। क्रोध-भय आदि भावों में निमग्न दशा में भी यही बात है। अत: इष्टादि के दर्शनादिमात्र को नहीं वरन् इनसे अतिरिक्त मन:स्थिति को सुख-नामक वृत्ति कहना आवश्यक है। वैशेषिक भी ज्ञान व सुख को पृथक् गुण मानते हैं। जिसके ज्ञान-लाभ-उपभोगादि से सुख वृत्ति बनती है उसे इस सुखवृत्तिका भी परिचायक समझा जाने से 'विषय सुख' व्यवहार होता है। इस वृत्ति वाला अन्त:करण रजोगुण या तमोगुण से ढँका नहीं रहता अत: इसमें आत्मा का सुखरूप अभिव्यक्त होता है। सत्त्वगुण से सुख व ज्ञान होते हैं। ऐसा वृत्ति में प्रकट सुख ही धड़ है। वृत्ति इसलिये सुख है कि आत्मरूप सुख को प्रकट करती है। इसी के प्रियादि स्तर-भेद हैं।

आनन्दमय की प्रतिष्ठा, 'पूँछ', ब्रह्म कहा। इसे उक्त आनन्द का परम उत्कर्ष, असीम स्वरूप जानना चाहिये जो उपाधि-अनुसार उक्त चतुर्विध रूपों में प्रकट होता है। यह पूर्ण सुख वास्तविक और नित्य है, बाकी चारों अवास्तविक और अनित्य हैं। इस पूर्ण सुख को अनुभव करने के लिये तमोनिवारक तप चाहिये। तम अर्थात् अज्ञान, उसे निवृत्त करने वाला तप ज्ञान है। इस विचार-रूप तप से विद्या उपलब्ध होती है जिसे ब्रह्मचर्य, ब्रह्मसंस्थता से परिपक्व करते रहना पड़ता है। श्रद्धापूर्वक इस दृढता के लिये प्रयत्न ज़ितना-जितना होगा उतना चित्त सुयोग्य होकर उसमें आनन्द भी उतना उत्कृष्ट होगा। स्वरूप पूर्ण है पर चित्त अपनी योग्यता से उसे ग्रहण, प्रकट करता है, चित्तसम्बद्धरूप में उत्कर्ष-अपकर्ष होता है, स्वरूप में नहीं। अत: अज्ञान की विभिन्न वृत्तियाँ प्रियादि हैं, धड़रूप कोई वृत्ति नहीं वरन् वृत्तिमान् अज्ञान ही है और अज्ञान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्योंकि स्वरूप से असत्-जड-दुःखरूप प्रसिद्ध है इसलिये जैसे सत्ता-स्फूर्ति आत्मा से ग्रहण करता है वैसे आनन्द भी आत्मा से ही लेता है जो सच्चिदानन्दरूप प्रसिद्ध है। श्रुति ने समझाया है कि विषयसुख क्योंकि कामना की पूर्ति से होता है इसलिये कामनोपशम के उत्कर्ष के अनुसार सुख का उत्कर्ष होता है। उपशम भोग द्वारा होता ही है, वैराग्य द्वारा भी हो जाता है, भोग द्वारा करने में पराधीनता है, वैराग्य द्वारा करने में स्वतन्त्रता है। विषय प्राप्त किये व्यक्ति के बराबर, किं वा अधिक सुख उसे है जो उस विषय की कामना से आहत ही नहीं है! इसलिये कामना के सम्पूर्ण समापन पर सुख का परम उत्कर्ष अनावृत हो जाता है जो स्वयं ब्रह्मरूप है। कारण शरीर आनन्द नहीं वरन् आनन्द व्यक्त हो इसके लायक है, ऐसी उपाधि है जिससे ब्रह्म का आनन्दरूप कुछ भासता है। वह पूरा अनावृत हो इसके लिये तो अज्ञान हटना पड़ता है, कुछ पता चले इतना इसकी मोदादि वृत्तियाँ सम्भव करती हैं। समष्टि स्तर पर अज्ञान चेतन में ईश्वर-व्यवहार सम्भव करता है तथा व्यष्टि स्तर पर यही चेतन में जीव-व्यवहार सम्भव करता है। व्यष्टि-दृष्टि से अज्ञान में भेद अतः जीवों में भेद और समष्टि-दृष्टि से अज्ञान एक अतः ईश्वर एक है। चेतन यथावत् पूर्ण ही है।

मुमुक्षु को समझना है आत्मा का वास्तविक स्वरूप। 'आत्मा' ऐसी प्रतीति स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में है अतः इन्हें समझाया कि अनात्मा हैं। फिर इनमें आत्मभाव क्यों? इसके उत्तर में सम्भावना हुई कि इनका कारण आत्मा होगा, अतः इनके कारण पर भी विचार किया कि वह भी अज्ञानरूप है, अनात्मा है। इसलिये, यह समझना ज़रूरी कि उक्त तीनों उपाधियों से अन्य ही आत्मा है। 'अन्य' से केवल भेद नहीं वरन् अत्यन्त वैलक्षण्य कह रहे हैं। उपाधियाँ अनृत (असत्य), जड और दुःख हैं, आत्मा सत्य, ज्ञान, आनन्द है। उपाधियाँ ज्ञेय हैं, पराक् अर्थात् ज्ञाता से अलग हुई प्रतीत होने योग्य हैं, आत्मा ज्ञान है, प्रत्यक् अर्थात् ज्ञातारूप से ही प्रतीत हो पाता है, कभी ज्ञेयरूप से नहीं। ज्ञानरूप होने पर भी 'मैं ज्ञान' के बजाय 'मैं ज्ञानवाला'—यही आत्मानुभूति होती है किन्तु इसका विवेक करें कि जिस वाला मैं स्वयं को समझ रहा हूँ वह ज्ञान और मैं में अन्तर क्या है? तो समझ आता है कि अन्तर नहीं है, गर्मी वाली आग ऐसी प्रतीति होने पर भी गर्मी से अलावा आग कुछ न होने की तरह मैं से अलावा ज्ञान कुछ है नहीं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'आत्मा' का अवधारण करना है, उसके बारे में भ्रांत (औपाधिक) धारणाओं का नहीं। सर्वव्यापक, सर्वकारण, सर्ववेत्ता, अद्वितीय तत्त्व आत्मा है। ज्ञान-इच्छा-क्रिया भी उससे स्वतंत्र नहीं, भेदेन उपलब्ध जीव-जगत् भी उससे अतिरिक्त नहीं। सद्रूप से व्याप्त आत्मा से पृथक् भाव या अभाव असंभव है। उसे सत् की तरह चित् समझना भी सहज है। उसी के चित्स्वरूप को समेटी बुद्धि 'विज्ञान' है जिसके सहारे व्यापक चित् समझ आने से उसे विज्ञानमय भी कहा 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' आदि। बुद्धि में घिरा वही तत्त्व समझा जा सकता है, स्वरूप से वह समझ से परे है, अदृष्ट द्रष्टा है। लोकसिद्ध सत्-चिद्-आनन्द में उसे समझकर 'नेति नेत्यात्मा' यों लोकांश हटा कर परिशेष वस्तु आत्मा है। आनन्दरूपता जीव में उपलब्ध है, जीवभाव हटा तत्त्व वास्तविक आनन्द है। बिना प्रयोजन असीम प्रेम का सदा पात्र आनन्द है जो अज्ञावस्था में जीव स्वयं ही है, जीव के घेरे में आत्मा का आनन्दरूप प्रकट है। अद्वितीय होने से असंग यह साक्षी साक्षात् अपरोक्ष है, निर्विवाद है। एतद्विषयक विवाद केवल इसके औपाधिक रूपों के बारे में हैं, इसके स्वयं के बारे में नहीं। स्वानुभूति पर अविश्वास में हेतु ही नहीं (पंचदशी ६.२९)। आत्मरूप बोध के स्फुरण पर शंकालु तो मिट्टी के लौंदे-सा है (पंच.३.१९)! पूर्वोक्त तीनों उपाधियों से परे जो प्रत्यग्वस्तु स्वयम् भासमान है उसे विवेकपूर्वक 'यही मैं हूँ' यो निश्चित करना चाहिये॥१३॥

आत्मा को उपाधियों से अन्य कहा लेकिन उपलब्ध तो वह ऐसा होता है मानो उपाधिरूप हो! 'मैं मोटा, बली, विद्वान्, कर्मठ, प्रसन्न हूँ', आदि अनुभव उपाधिरूप आत्मा का आभास करा ही रहे हैं। ऐसा आत्मा सदा मुक्तरूप हो यह सम्भव नहीं कि इसके बोध से मोक्ष मिले। इस समस्या के समाधानार्थ कहते हैं—

पञ्चकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थितः।
शुद्धात्मा नीलवस्त्रादियोगेन स्फटिको यथा॥१४॥

शुद्ध ही आत्मा पाँच कोश आदि के सम्बन्ध से उन-उन से मानो एकमेक हुआ उपस्थित है जैसे नीले कपड़े आदि के सम्बन्ध से स्फटिक नीला आदि-सा हुआ रहता है।

पूर्वश्लोकों में कहे शरीर ही कोशों के विभाजन से पाँच गिने जाते हैं। हर-एक कोश से सम्बद्ध हुआ आत्मा लगता है मानो वह कोश ही हो, उसी से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

घटित हो। उपादानता या घटकता सूचित करते 'मय'-प्रत्यय से पता चलता है कि जीव की अज्ञावस्था में उसका आवश्यक घटक कोई-न-कोई उपाधि रहता है मानो उपहित हुआ जीव उपाधिविकार हो! अथवा अनुभव और व्यवहार में उपाधि की प्रचुरता बताने के लिये जीव को उपाधिमय कहा है। कोशों का सम्बन्ध आत्मा से एक ही सम्भव है—अन्योन्याध्यास। कोशों का आत्मा पर स्वरूपाध्यास और उनकी विशेषताओं एवं आत्मा में संसर्गाध्यास—यों दो ढंगों का एक ही सम्बन्ध है। अध्यास भी तादात्म्यरूप है अतः उपाधियों और उनके धर्मों से आत्मा का अन्तर धूमिल भले ही हो, ओझल नहीं होता। 'कोशादि'-यों श्लोकोक्त आदि से जाग्रद्, बाल्य आदि अवस्थाएँ, कोशसम्बद्ध अन्य वस्तुएँ एवं मन की विभिन्न वृत्तियाँ ग्राह्य हैं। जीव पर जाग्रत् हावी है, स्वप्न-सुषुप्ति भी अपनी ही अनुभूति हैं पर स्वयं को हम वही और उतना ही, वैसा ही समझते हैं जो हम अपने को जाग्रत् में पाते हैं। बाल्यादि में तो जो जब वर्तमान होती है वह अवस्था हम पर हावी रहती है, पुरानी याद आने पर भी अनावश्यक लगती है, भावी अनिवार्य दीखने पर भी विचारणीय नहीं लगती। ऐसे ही मनोवृत्तियाँ हावी हो जाती हैं : 'येऽस्य बन्धनसंज्ञका उपाधिभूताः, यैः संयुक्तः 'तन्मयोऽयम्' इति विभाव्यते, ते पदार्थाः पुञ्जीकृत्येहैकत्र प्रतिनिर्दिश्यन्ते' (बृ.भाष्य.४.४.५) अर्थात् श्रुति ने उपाधिमय जीव को कहा क्योंकि उपाधि ही उसका बन्धन है। वहाँ श्रुति ने बताया है कि भूख आदि से अतीत ब्रह्मरूप आत्मा ही बुद्धि से सम्बद्ध विज्ञानमय हो जाता है, मन-सम्बन्ध से मनोमय, ऐसे ही प्राणमय-चक्षुर्मय-श्रोत्रमय आदि होता है; क्योंकि उपाधियाँ भौतिक हैं इसलिये इस दृष्टि से भूतमय होता है; मन की वृत्तियों के अनुसार काममय-अकाममय-क्रोधमयादि होता है जिनसे प्रेरित हुआ धर्ममय-अधर्ममय हो जाता है। सभी इकट्ठे करें तो 'इदंमयः, अदोमयः' 'यहमय, वहमय' कह सकते हैं! इन सबमें प्रधान है कामनारूप उपाधि इसलिये 'काममयएवाऽयं पुरुषः' कहा है। इसी अभिप्राय से 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः' ऐसा भगवान् ने कहा।

अथवा, कोश या म्यान की तरह होने से स्थूल शरीर ही कोश है। उद्भिजादि चार और अयोनिज देवादि देह, यों पाँच कोश समझने चाहिये। स्थूल देहों के भेद्रवश जीवभेद का भ्रम प्रसिद्ध है। आदि-शब्द से इन देहों से सम्बद्ध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रिया-पदार्थ-व्यक्ति आदि वे समझने चाहिये जिनसे हम स्वयं को विशेषित जानते हैं जैसे लोभी धनमय, कामुक स्त्रीमय इत्यादि होता है। कोई 'पदमय' हो तो पदवंचित होने से स्वयं की ही हानि समझता है, 'मैं' को निरूपित करने के लिये पद से अतिरिक्त उसे कुछ सूझता नहीं। जिसका मन प्रायः जिस भाव को लिये रहे वह तन्मय कहलाता है। बंधदशा में हम 'संसारमय' हैं, साधना करते हैं तो ईश्वरमय बनेंगे, विवेक फलेगा तो ब्रह्ममय होंगे। निष्ठादशा में ब्रह्म ही हैं, उससे पूर्व ब्रह्ममय होंगे, कदाचित् देहादिभाव प्रतीत होंगे। जगत् भले ही ब्रह्ममय है, पर इसे ऐसा समझने के लिये दृष्टि को ज्ञानमयी बनाना पड़ता है।

आत्मा एक अद्वितीय रहते अनन्त देहोपाधियों से अनन्त जीव प्रतीत होता है। जीव भी इतनी ज़्यादा उपाधियों से तत्तन्मय होता रहता है कि स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में वह उपाधिमय भी नहीं होता, 'तत्तन्मय इव' अर्थात् तत्तन्मय जैसा ही होता है! यदि उपाधि उसके अवयव हों या वह उपाधि का विकार हो या कोई उपाधि उसमें प्रचुर हो तो कम-से-कम निश्चित उपाधि तो रहे, जबकि उपाधियाँ बदलती भी रहती हैं, एक-साथ अनेक भी रह जाती हैं तो किसे प्रचुर आदि समझें? अत्यन्त पापी अनेक सत्कर्म, सद्विचार वाला दीखता है, अनेक धार्मिक पाप करते मिलते हैं, कामुक भी शांत और विरक्त भी किसी कामना वाला मिलता है। अतः जैसे श्रुति ने 'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ.४.४.७) कहा वैसे यहाँ इवकार रखा है। न वास्तव में धर्मिमय (उपाधिमय) है, न धर्ममय (उपाधि-धर्ममय अर्थात् काममय आदि; कामनाआदि मन आदि उपाधियों के धर्म हैं)। तत्तन्मय-जैसा समझकर आत्मा के स्वरूप के प्रति जागरूक रहे, उपाध्यादिमयता को स्वरूपगत न समझे तो शुद्धात्मा का भान होगा। स्वच्छ व स्थिर चित्त में साक्षी जो अवबोधमात्र वह प्रतीत हो जाता है और वहाँ स्वरूप समझकर चित्त से निरपेक्ष स्वात्मा का, शुद्धात्मा का भान होता है जो त्वम्पदार्थ का शुद्ध रूप है। नील स्फटिक दीखने पर स्फटिक रंग वाला नहीं यह पता चले तो परीक्षा से समझ आता है कि नीला कपड़ा आदि कुछ निकट होने से स्फटिक नीला दीखा, नीला हुआ नहीं, लेकिन ऐसी उपाधियों से दूर कर देखें तभी पता चले कि फिर होता कैसा है, रंगरहित वह दीखता कैसा है। इसी प्रकार उपाधि-भिन्न आत्मा है यह शास्त्र-युक्ति से पता चलने पर यह ज़रूरी कि शुद्ध-स्थिर चित्त में आत्मदर्शन करें ताकि स्वरूपानुभूति हो, उसके बिना वाक्यार्थज्ञान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

असंभव है। वह अनुभूति भी शनैः शनैः स्थिर होगी तभी कोशादि से मैंभाव हटेगा। 'कोश मैं नहीं' का सैद्धान्तिक निश्चय ही पदार्थ-शोधन नहीं वरन् उनसे मैंभाव हटकर, 'मैं इनसे सर्वथा पृथक् हूँ' यह अनुभव स्थायी रहना शोधन है। अतः अनात्मरूप उपाधियों का चिन्तन छोड़ना पड़ता है। इन्हें अनात्मा समझकर चिंतन इसलिये छूटना चाहिये कि बाह्य घट-पटादि अनात्मा का जैसे चिंतन नहीं करते वैसे इनका चिंतन उपयोगी नहीं। अभी इसीलिये चिंतन होता है कि इनमें मैंभाव है, आत्मचिंतन के नाम पर इन्हीं का चिंतन हमसे सम्भव है! शोधन के बाद मैंभाव न रहे तो घट-चिंतन जैसे कोशचिंतन छूटे यही उचित है। सच्चिदानन्दरूप स्वात्मचिन्तन करता रहे, अनात्मचिन्तन से, कोशचिन्तन से बचा रहे यह साधक का कर्त्तव्य है। श्रुति ने कोश बताये क्योंकि अरुंधति-तारे की तरह आत्मा सूक्ष्म है अतः उस तक दृष्टि ले जाने के लिये स्थूल आलंबन चाहिये रहता है लेकिन कोशों का 'उपसंक्रमण' ही करना है, इसमें संशय नहीं।।१४।।

शोधनार्थ विवेकात्मक विचार का विस्तार करते हैं—

वपुस्तुषादिभिः कोशैर्युक्तं युक्त्यवघाततः ।
आत्मानम् आन्तरं शुद्धं विविच्यात् तण्डुलं यथा ।।१५।।

जैसे कूटने द्वारा धान से चावल अलग किया जाता है वैसे कोशों से अर्थात् शरीररूप भूसे आदि से युक्त भीतरी शुद्ध आत्मा को युक्ति के अभ्यास से साधक पृथक् कर अनुभव करे।

धान कूटने की तरह विवेकाभ्यास दृष्ट-प्रयोजन वाला होने से फललाभपर्यन्त आवर्त्तनीय है और नियमादृष्ट द्वारा दृष्ट फल न होने पर भी अगले जन्मादि में फलता है। प्राकृतिक रूप में भूसे-सहित ही मिलते चावल को कूटकर भूसे से पृथक्कर काम में लाने की तरह नैसर्गिक अविद्या और देहाद्यध्यास से युक्त ही उपलब्ध आत्मा को युक्ति से परीक्षापूर्वक उपाधियों से पृथक्कर मोक्षार्थ काम में लिया जाता है। ऐहिक व्यवहार में देहोपाधियुक्त ही समर्थ है, परलोक-व्यवहार में सूक्ष्मोपाधियुक्त ही समर्थ है, मोक्षव्यवहार में निरुपाधि ही समर्थ है। जिस कार्य में जो समर्थ उसका उपयोग सफल होगा, अन्य का नहीं अतः मोक्ष के लिये प्रयास में, अविकार अद्वितीय व्यापक चैतन्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के भान में उपाधिनिर्मुक्त ही काम में लेना पड़ेगा। मूसल की जगह युक्ति, उसकी चोट की जगह विवेक, विश्लेषण है। आत्मा के अनुभूयमान रूप का विश्लेषण करे, मैं-समझे जाते पदार्थ में जो अनात्मांश उससे पृथक् जो भासे वही मैं हूँ– यह निश्चय स्थिर रखे यह मुमुक्षु का कर्त्तव्य है। प्रमाणानुसारी तर्क को युक्ति कहते हैं। आत्मा के वास्तविक रूप में प्रमाण शास्त्र है, तदनुसारी अर्थात् जैसा वह बताता है वैसा स्वयं को अनुभव करने का तरीका युक्ति है। इसलिये चित्तशुद्धि-सत्संस्कारादि सभी का युक्ति में संग्रह है। चित्त को जैसे हो वैसे निर्विशेष आत्मानुभव के लायक बनाने को युक्ति कहते हैं। होनी सारी युक्ति आत्मकेन्द्रित चाहिये जैसे मूसल की हर चोट धान पर पड़नी चाहिये, इधर-उधर नहीं। दो चोटों के बीच अन्तराल भी नहीं चाहिये, आज एक चोट मारी कल सुभह-शाम एक-एक मारी, बीच में कुछ दिन नहीं मारी, फिर दिन में चार-पाँच बार मारी, यों करने से धान कूटकर चावल पाना जैसे लगभग असंभव वैसे आत्मविवेक में न अन्तराल, न विषयान्तरचिन्ता सह्य है।

अनात्मा से आत्मा में विशेषता उसका भीतरीपन, प्रत्यक्ता, बिना विषय हुए अनवरत भासते रहना है। जहाँ बाहरीपन, पराक्ता, विषय होकर भान मिले वह चाहे 'मैं' अनुभूति के अन्तःपाती हो फिर भी उसे भूसे-सा अनात्मा जानकर छोड़ना ही पड़ेगा, जो आन्तर है वही बचा रहे, मैं-भान में उससे अलावा कुछ न भासे इसका प्रयत्न करते ही रहना पड़ेगा। स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों व इनकी विशेषताओं को कार्यत्व, परिच्छिन्नत्व, विकारित्व आदि हेतुओं से अनात्मा (गैर-मैं) जानना, यथाशक्ति विचार से इस बारे में निःसन्दिग्ध होना युक्ति-प्रयोग का फल है। मैं-से जुड़ी उपाधियों में रागवश यह विवेक दुष्कर हो जाता है, इनसे हम स्वयं को रहित समझना ही नहीं चाहते। विरक्त तथा कर्म छोड़ा अधिकारी ही त्वम्पदार्थ-विवेक में तत्पर हो सकता है। जैसे मूसल चोट पहुँचाता है ऐसे युक्ति उपाधि-युक्त आत्मा को चोट पहुँचाती है, उसे सहे तभी भूसे-सी उपाधि से छुटकारा मिले। जैसे बेतरतीब मूसल कूटने से चावल भी टूट जाता है वैसे प्रमाण का अनुसरण न करने वाले तर्क से आत्मा के भी निरास की सम्भावना हो जाती है जैसे बौद्धों ने की, अनुमानैकचक्षु होने से अनात्मता ही समझ गये! शास्त्र में श्रवण के बाद मनन इसीलिये कहा कि दिग्भ्रम न हो जाये,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दिशाहीन तर्क करने में न प्रवृत्त हों। अभी भी आत्मज्ञान है पर अविविक्त का है, विचार से विविक्त आत्मा को जानना है, न कि आत्मज्ञान से ही हाथ धो बैठना। आत्मा 'साक्षात्' तत्त्व है, अनायास, बिना उपाय के निरन्तर भासमान है। शुद्ध अर्थात् असंग है। जाग्रत् के संगों (आसक्तियों) को स्वप्नादि में या वहाँ के संगों को जाग्रदादि में ही नहीं लाता तो उसकी असंगता का क्या कहना। कामना और वासना पुर्यष्टक में ही है, आत्मा से सम्बद्ध नहीं। कर्म व भोग भी आत्मा को अशुद्ध नहीं करते क्योंकि वह कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। स्वाभाविक-आगंतुक कोई अशुद्धि उसमें नहीं। एक अज्ञानरूप दोष है पर वह भी अध्यस्त ही होने से वास्तव में अधिष्ठान आत्मा को अशुद्ध नहीं करता। उपाधियों की अशुद्धि से ही हम स्वयं को अशुद्ध जान रहे हैं, कोशों से पृथक् स्वयं को समझने के साथ ही सारी अशुद्धि दूर रह जाती है, अपने स्वरूपतः शुद्ध स्वभाव का भान होता है। इसके लिये तत्पर हो प्रयास करे यह मुमुक्षु को निर्देश दिया॥१५॥

युक्ति-प्रयोग करने पर कुछ प्रश्न उठेंगे ही : आत्मा कहते ही निरन्तर व्यापक तत्त्व को हैं जबकि अनुभूति उसकी देहान्तर्वर्त्ती मन में ही होती है, अन्यत्र नहीं। ऐसा क्यों? कारण है कि जैसी हमें अभी 'अनुभूति' समझ आती है वैसी के लिये मन चाहिये अतः उसके बिना हम 'अनुभूति ही नहीं' मान बैठते हैं! अस्तित्व-निश्चयरूप अनुभूति विचार द्वारा संपाद्य है यह सोदाहरण समझाते हैं—

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते।
बुद्धावेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत्॥१६॥

आत्मा हमेशा हर जगह उपस्थित होने पर भी सब जगह समझा नहीं जाता, बुद्धि में ही समझ आता है, जैसे साफ दर्पणादि में ही प्रतिबिम्ब समझ आता है।

आधुनिक दृष्टि से, बिम्ब से टकराकर प्रत्यावर्त्तित प्रकाश ही दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाता है जब दर्पण से किसी आँख पर पड़े। प्रतिबिम्ब अतः प्रकाशरूप ही है। दर्पण जहाँ नहीं उस मध्यवर्त्ती स्थान पर भी वही प्रकाश है ही अतः प्रकाशरूप प्रतिबिम्ब है अवश्य पर दीखता नहीं, विचार के बिना समझ भी नहीं आता। एक-साथ अनेक दर्पण दूर-पास भी रखें तो सभी में प्रतिबिम्ब 'पड़ता' (अर्थात् दीखता) है अतः दर्पण न रखा हो तो भी उसका अस्तित्व

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नकारना सम्भव नहीं। विचार से भले ही यह निश्चय स्थायी रहे लेकिन दर्पणारूढ के चाक्षुष प्रत्यक्ष को ही प्रतिबिम्ब-ग्रहण मानें तो सम्भव नहीं कि सर्वत्र प्रतिबिम्ब स्वीकार पायें। ठीक इसी प्रकार आत्मा देश-काल से अपरिच्छिन्न, व्यापक है। 'सदा' से कालकृत और 'सर्वगत' से देशकृत परिच्छेदों का निषेध किया। कहते भले ही हैं 'सब देश-काल में आत्मा है' पर तात्पर्य है कि वह सब देश-काल से अपरिच्छिन्न, उनसे व्यापक है। देश-काल तो आत्मा में समझे भी जा सकते हैं, आत्मा 'उनमें' वैसे ही समझा जा सकता है जैसे घड़े में जगह। व्यापक जगह में घड़ा तो है, ऐसे घड़े में तो जगह है नहीं; इसी तरह व्यापक आत्मा में तो देश-काल हैं, इनमें वह है नहीं। फिर भी देश-काल की वासना वालों को समझाने के लिये शास्त्रकार इस तरह उसकी व्यापकता बताते हैं। इसी तरह 'अनेजज्जवीयः' से उसे क्रियापरिच्छेदरहित भी बताते हैं, 'अदृष्टो द्रष्टा' आदि से ज्ञानपरिच्छेदरहित भी बताते हैं, 'न सत्तन्नासदुच्यते' आदि से कार्य-कारणभाव के परिच्छेद से रहित भी बताते हैं, संक्षेप में 'नेति नेति' से सारे परिच्छेदों से रहित बताते हैं। वास्तविक व्यापक को अविद्यादशा में समझाने का ढंग ही यह है। देश-काल-वस्तु आदि आगमापायी हैं, इनकी अवधि अर्थात् सीमा (जहाँ इनका आगम और जहाँ से अपाय होता है वह) आत्मा है। आगन्तुक से उसकी सीमा सर्वथा स्वतंत्र है यह तर्क से स्पष्ट है।

व्यवहार-स्तर का 'अवभास' तो जैसे बाकी चीज़ों का वैसे आत्मा का भी बुद्धि में ही होगा, उसके बिना वैसे अवभास की आशा भी नहीं। दर्पण में दीखने वाला तो दर्पण में ही दीखेगा, व्यापक उसे 'देखें' यह सम्भव नहीं, ज़रूरत भी नहीं। व्यापक के अस्तित्व का निश्चय ही आवश्यक है। आत्मा का व्यापकभाव परोक्ष इसलिये नहीं होगा कि आत्मवस्तु ही स्वतः अपरोक्ष है, फिर भी विषय-प्रत्यक्षवत् नहीं होगा यह तो स्पष्ट ही है और इसीलिये उसे प्रत्यक्ष के बजाय अपरोक्ष या साक्षात् ही अधिकतर कहते भी हैं। तथापि इसके अकम्प निश्चय के लिये जो प्रत्यक्ष चाहिये वह बुद्धि में करना भी आवश्यक! अशुद्ध दर्पणादि जैसे अशुद्ध बुद्धि में आत्मा का यथार्थ प्रतिबिम्ब पड़ेगा नहीं, इसलिये बुद्धि को शुद्ध करना अनिवार्य है। जैसा शुद्ध आत्मा, लगभग वैसी ही शुद्ध बुद्धि बनानी पड़ेगी, उसी का नाम 'आत्माकार वाली बुद्धि' है। राग-द्वेष ही मन की अशुद्धि हैं, इन्हें जड़ से उखाड़े बिना आत्मसाक्षात्कार असंभव है। कथंचित् हुआ भी तो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अत्यन्त क्षणिक और अप्रभावी होगा। उससे इतना ही संभव है कि आत्मबोध में रुचि हो जाये, इससे ज़्यादा नहीं।

आत्मा सर्वगत कहा जा ही सकता है क्योंकि किसी देश-काल में उसके निषेध के लिये कोई प्रमाण या अनुभूति नहीं अर्थात् 'इस देशकाल में आत्मा नहीं है' कहने का आधार कोई नहीं। शरीरादि उपाधियों के होने-न होने में प्रमाणादि सुलभ हैं पर आत्मा के निषेध के लिये नहीं। सद्रूप होने से उसके अस्तित्व को स्वीकारना तो औत्सर्गिक, स्वाभाविक है। उसके प्रत्यग्भाव की अनभिज्ञतावश सत् समझकर भी जैसे घट को प्रत्यगभिन्न नहीं मानते वैसे सन्मात्र प्रत्यङ्मात्र जानने के लिये सत् की प्रत्यक्ता का ज्ञान पाना अनिवार्य है। ऐसे ही आनन्दभान के लिये ज्ञान चाहिये। जिसे आन्तर शुद्ध समझा उसी को सर्वगत समझना ज़रूरी यह पूर्व-उत्तर (१५-१६) श्लोकों का भाव है॥१६॥

व्यापक स्वरूप समझकर उसे प्रत्यग् में आत्मसात् करेंगे तो जो निर्लेपता व्यापक में स्वाभाविक वही प्रत्यग् में प्रकट होगी। साक्ष्य से जैसे साक्षी उदासीन, तटस्थ होता है वैसे देह में भासमान भी आत्मा वस्तुगत्या है तो उदासीन ही, उपाधितादात्म्यवश संग का भ्रम ही पाले है यह सोदाहरण समझाते हैं—

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यो विलक्षणम् ।
तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्याद् आत्मानं राजवत् सदा ॥१७॥

शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि और प्रकृति से विपरीत लक्षणों वाले, तथा देहादि एवं उनकी वृत्तियों के साक्षी को आत्मा जानो जो हमेशा राजा जैसा रहता है।

देह से यद्यपि प्राण भी संगृहीत है क्योंकि निष्प्राण तो शव कहलाता है, तथापि प्राण और उसकी वृत्तियाँ इतनी सहज-स्वाभाविक हैं कि उनके प्रति साक्षिता का उल्लेख अनावश्यक प्रतीत होता है। जैसे इन्द्रियादि व तद्वृत्तियाँ प्राय: भासती हैं वैसे प्राण-तद्वृत्तियों के प्रति कोई जागरूकता नहीं रहती, केवल रुकावट आदि आने पर उधर ध्यान जाता है। यद्यपि यह अन्तर प्रमाता के स्तर का है, साक्षी के स्तर का नहीं तथापि साक्षी के सामने प्रमाता ही रहने से प्रमाता में प्राण का अभिमान न होने पर उसके द्वारा साक्षी में भी प्राण के प्रति साक्षिभाव कहना नहीं बनता। इसलिये जिस-जिस से प्रमाता का अभिमान हटेगा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उस-उस के प्रति साक्षिभाव भी नहीं रहेगा, सारे अभिमान हटने पर साक्ष्यमात्र से निरपेक्ष स्वप्रकाश आत्मतत्त्व ही रहेगा जिसे योग्यतावश या भूतपूर्वगत्या ही साक्षी कहा जायेगा। इसीलिये साक्षी में साक्षिता को वास्तविक नहीं माना जाता। प्रमातृता हटने पर प्रमाता तो रहता ही नहीं जबकि साक्षिता हटने पर भी साक्षी रहता है क्योंकि वास्तव में वह आत्मा ही है। 'प्रकृति' से अज्ञान, कारण-शरीर, आनन्दमयकोश समझना चाहिये। अज्ञान ही आकाशादि परिणममान संसार का मूल कारण होने से प्रकृति कहा जाता है। प्राय: समष्टि के लिये प्रकृति-पद प्रयुक्त होता है तथापि वस्तुस्थिति के अनुसार कहा जा रहा है। अथवा जन्म के समय अभिव्यक्त स्वभाव-नामक प्रकृति का भी आत्मा साक्षी ही है, वह प्रकृति भी आत्मा का स्वरूप नहीं। मनुष्य पैदा होगा तो उसमें मानव-प्रकृति उद्बुद्ध होगी, पशु-पक्षी आदि में वे प्रकृतियाँ होंगी, उनमें भी दैवी-आसुरी आदि का भेद रहेगा, किंतु ये भी क्षेत्रस्तर में ही, साक्ष्य कोटि में ही हैं, साक्षी में नहीं, यह समझना चाहिये।

देह से प्रकृति तक सभी जड, कार्य-कारणभाव से ग्रस्त और ज्ञेय हैं। जडता से परतन्त्रता व अज्ञान कह रहे हैं, ज्ञेय से देहादि की व्याप्यता, परिच्छिन्नता, अध्यस्तता कह रहे हैं। ज्ञान से व्याप्य ही ज्ञेय होता है तथा अनावृत ज्ञान से तादात्म्य वाला, अर्थात् उस पर अध्यस्त होने पर ही ज्ञेय होता है। आत्मा इन सब दृष्टियों से देहादि से विलक्षण है। स्वातिरिक्त सभी से पृथक्कर जो पहचान कराये वह 'लक्षण' कहा जाता है। आत्मा का लक्षण ही ऐसा है कि वह देहादि से पृथक् पहचाना जाये। लक्षण से अनभिज्ञतावश हम अनात्मा में आत्मबुद्धि करें, लेकिन वस्तुस्थिति है कि उसमें व देहादि में कोई समानता है ही नहीं कि यह भ्रान्ति हो! 'भ्रमाद् अलभ्यं न हि किञ्चिद् अस्ति' अर्थात् ऐसा कुछ नहीं जो भ्रम से न हो सके! क्योंकि मूढदशा में हम स्वयं में, आत्मा में देहादि-लक्षण महसूस कर रहे हैं इसलिये इनसे विपरीत लक्षणों वाला उसे समझने को कहा, अन्यथा जैसे धरती को आकाश से विपरीत लक्षणवाला समझना नहीं पड़ता वैसे आत्मा को जैसा है वैसा ही समझना पर्याप्त था। सच्चिदानन्दादि यद्यपि आत्मा के निरपेक्ष लक्षण हैं तथापि उक्त परिस्थितिवश उन्हें असत्-जड-दु:खभेद के रूप में समझना आवश्यक है अत: 'विलक्षण' कहा। सभी निषेधमुखोपदेशों का यही उपयोग है। विधिमुखोपदेशों से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सविशेषता-भ्रान्ति सम्भव रहती है, निषेधमुखों से अभावरूपताभ्रान्ति सम्भव रहती है अतः शास्त्र दोनों तरह कहता है, दोनों का उपयोग अनिवार्य है। असद्-आदि से व्यावृत्ति के रूप में सद् आदि बताये जाने पर भी वे स्वयंसिद्ध हैं क्योंकि आत्मस्वरूप हैं। असद्-आदिरूप उपाधियों से क्योंकि स्वयं को हम एकमेक समझे हैं और यही आत्मा की अशुद्धि है इसलिये इनसे सर्वथा पृथक् समझना, अनुभव करना ही आत्मा की शुद्धि है। उपाधियाँ एवं उनके सभी बर्त्तावों का साक्षी ही मैं हूँ, बर्त्तावों वाला या उनसे किसी भी तरह सम्बद्ध, प्रभावित नहीं हूँ—यह अनुभूति स्थिर रखना साक्षिरूप आत्मभाव है। 'विद्याद्' से विधान किया जैसा श्लोक १३ में 'अवधारयेत्', श्लोक १५ में 'विविच्यात्' किया था क्योंकि ग्रन्थारम्भ में ही आत्मबोध के विधान की प्रतिज्ञा थी। तात्पर्य है कि साधक कर्त्तव्यबुद्ध्या आत्मशोधन नियमतः करे।

दृष्टान्त दिया राजा का : सारा राजकार्य विभिन्न स्थानों में, विभिन्न विभागों में स्थित मन्त्री आदि राजपुरुष करते हैं, राजा सभी का अध्यक्ष रहता है, सबके कार्यों पर दृष्टि ही रखता है, सीधे ही कोई हस्तक्षेप नहीं करता, कोई कार्य सम्पन्न करने में स्वयं नहीं जुटता। किंच मंत्रियों की सामर्थ्य राजसामर्थ्य ही है, स्वतन्त्र व्यक्तिगत स्तर पर तो सामान्य नागरिक ही हैं। इतने में ही दृष्टान्त है, मन्त्री नियुक्त करना, उन्हें दण्डित-पुरस्कृत करना, बदलना, उनके कार्यों से सुख-दुःखी होना इत्यादि अंश में दृष्टांत नहीं है। क्षेत्ररूप उपाधि मन्त्रिस्थानीय और साक्षी राजस्थानीय है। क्षेत्र की सामर्थ्य आत्मकृत है जैसा 'प्राणस्य प्राणः' आदि श्रुतियों से स्पष्ट है एवं क्षेत्रकार्यों को देखते रहना, जानते रहना, इतना ही साक्षी करता है। अतः मंत्रियों से राजा की तरह विलक्षण है।

मन्त्री बदले जा सकते हैं, राजा तदपेक्षया स्थायी होता है, ऐसे ही साक्ष्य (अर्थात् साक्षी के विषयभूत जो जड वस्तुएँ हैं) बदल जाते हैं, साक्षी स्थिर रहता है। अतः जैसे मंत्रिसत्ता राजा के अधीन वैसे दृश्यसत्ता साक्षी के अधीन है। इस तरह साक्ष्य सारा ही साक्षिसत्तातिरिक्त सत्ता वाला न होने से मिथ्या व साक्षी सत्य है। सत्य में आत्मबुद्धि रखनी है, मिथ्या में नहीं अतः साक्ष्यनिरूपितता भी छोड़कर आत्ममात्र मैं हूँ यह विवेक करना आवश्यक है।।१७।।

साक्षी उदासीन, तटस्थ अतः साक्ष्य-निर्भर विकारों से अस्पृष्ट होता है। जो तो विकारी जानकार वह प्रमाता, चिदाभास ही है, साक्षी कहलाता ही इसलिये

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कि निर्विकार रहते स्वभाव से जानने वाला है। किंतु 'मैं' तो देहादि से निरन्तर प्रभावित ही हूँ, मैं साक्षी कैसे? इसके समाधान में समझाते हैं कि दृग्रूप आत्मा का अन्वय रहते दृश्यरूप विकार बदलते रहते हैं अत: दृक् से वे भिन्न, असत्य ही हैं—

व्यापृतेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारीवाऽविवेकिनाम्।
दृश्यतेऽभ्रेषु धावत्सु धावन्निव यथा शशी ॥१८॥

इन्द्रियाँ प्रवृत्ति-निवृत्ति करती हैं तो अविवेकियों को लगता है मानो आत्मा ही प्रवृत्ति-निवृत्ति कर रहा हो! बादल तेज़ी से चलने पर जैसे लौकिकों को चन्द्रमा चलता-सा दीखता है (वैसे अविवेकी को आत्मा कर्त्ता-भोक्ता अनुभव होता है)।

व्यापृत अर्थात् व्यापार-संलग्न। सफलता के लिये किये सारे प्रयास व्यापार कहलाते हैं, उपलक्षणा से समस्त प्रवृत्ति-निवृत्ति व्यापार है। इन्द्रियाँ ज्ञानार्थ या क्रियार्थ जो भी करती हैं सब उनके व्यापार हैं। इन्द्रियाँ भौतिक व परिच्छिन्न हैं अत: उनमें क्रिया-प्रतिक्रियादि संगत, स्वाभाविक हैं। उनकी रचना ही इसलिये है कि कर्म एवं भोग सम्पन्न करें। उन्हें इसमें सामर्थ्य तो आत्मा से मिलती है पर उनके किसी क्रियाकलाप में आत्मा का योगदान नहीं है। सामर्थ्यप्रदान भी कोई आत्मा का प्रयास नहीं है वरन् इन्द्रियाँ आत्मा पर स्वरूपत: अध्यस्त हैं अत: आत्मा से सत्ता-स्फूर्ति मिलना स्वाभाविक है। किंतु इन्द्रियों से आत्मा का स्वतन्त्र पार्थक्य न समझने से उन्हें एकमेक मान बैठते हैं तो 'मैं कर रहा, भोग रहा हूँ' यह भ्रान्ति बनी हुई है। सद्गुरु के निर्देशानुरूप शास्त्र की समझ के अभाव में यह स्वाभाविक अविवेक कायम रहता है। व्यापार सारे हैं तो अनात्मरूप उपाधियों में लेकिन अविवेक के चलते स्वयं को हम व्यापारवान् ही महसूस कर रहे हैं। वास्तव में रहता व्यापारहीन ही हूँ इतना ही 'इव' के प्रयोग से सूचित है, न कि यह कि अविवेकी स्वयं को 'व्यापारी जैसा' ही समझता हो! यदि 'जैसा' के स्तर का भान हो जाये तो अविवेक ही न बचे। जैसे 'शुक्तिका हि रजतवद् अवभासते' आदि में वत्-शब्द प्रयुक्त है वैसे यहाँ इव-शब्द है। व्यापार सभी दृश्य हैं अर्थात् 'मैं' को विषयरूप से प्रतीत होते हैं। भले ही मुझमें अभिन्नतया प्रतीत हों पर आगम-अपायी, घटते-बढ़ते प्रतीत होते हैं जबकि मैं स्थिर एकरस ही भासता हूँ। सविषय ज्ञान और सुख पर्यन्त सभी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यापार दृश्य ही होने से 'मैं' उनसे सर्वथा स्वतन्त्र हूँ फिर भी अविवेकवश समझ रहा हूँ कि 'मेरा व्यापार है, मैं व्यापार वाला हूँ'। स्वरूपज्ञानात्मक मैं और मुझे होते घटादिज्ञान, स्वरूपानन्दात्मक मैं और मुझे होते विषयादि सुख हैं तो सर्वथा पृथक् लेकिन भ्रमवश स्वरूप आवृत ही रह जाता है और वृत्तिरूप ज्ञान-सुख मुझे अपना स्वरूप भासते हैं जिससे मैं स्वयं को व्यापारी जानकर बन्धन अनुभव कर रहा हूँ।

इस आरोपित व्यापारिभाव से छूटने का उपाय विवेक ही है। त्वम्पदार्थ-शोधन साधना का प्रधान भाग है जिसमें मुख्य विवेक ही है। व्यापार-समकक्ष व्यापारी को समझते जायें एवं उसे दृश्य जानते जायें तो निर्व्यापार आत्मस्वरूप स्पष्ट समझ आने लगता है। निष्क्रिय में सक्रियता के औपाधिक भ्रम के लिये दृष्टान्त दिया चन्द्र का। क्रिया बादलों में दीख रही है पर क्योंकि उनसे चाँद छिपा है इसलिये चाँद में क्रिया का आरोप होता है। नौका चलते पेड़ चलना दीखने की तरह समझ सकते हैं। नौकादृष्टान्त में सचल को अचल में चलनभ्रम स्पष्ट है, यहाँ अचल को भ्रम दिखाना है इसलिये वह दृष्टांत नहीं दिया। ज़मीन पर व्यक्ति अचल, आसमान में चाँद अचल, बीच में बादल चल रहे हैं और अचल द्रष्टा को अचल चाँद सचल दीख रहा है—यह दृष्टान्त है। द्रष्टा और चाँद में भेद है—यह दृष्टान्तभाग अविवक्षित है। आधुनिक युग में यन्त्रादि से ऐसे भ्रम कराते हैं जहाँ कुर्सी पर आराम से बैठे व्यक्ति को 'मैं गिरा, भीगा' आदि प्रतीति होती है, उन्हें भी उदाहरणार्थ समझ सकते हैं। बादल चल रहे हैं—यह जैसे पता ही रहता है वैसे कोश व्यापार कर रहे हैं—यह भी मालूम रहता ही है; तथापि चाँद में गति की तरह स्वयं में व्यापार भी प्रतीत होता है। बादल-क्रिया से स्वतन्त्र चन्द्र-क्रिया जैसे नहीं दीखती न मानी जाती है वैसे कोश-क्रिया से स्वतन्त्र आत्मक्रिया भले ही प्रतीत न हो तथापि शशी निष्क्रिय भी जैसे प्रतीत नहीं होता वैसे आत्मा निष्क्रिय है इस प्रतीति से हम वंचित बने रहते हैं। 'दृश्यते' का 'आत्मा' से भी सम्बन्ध है। अतः 'दृश्य आत्मा' ही व्यापारी प्रतीत होता है, द्रष्टा आत्मा नहीं—यह रहस्य है। जितना अपनी दृश्यता को प्रधान समझेंगे उतना व्यापारी-पन स्थिर रहेगा, जितना द्रष्टृता का महत्त्व रहेगा उतना निर्व्यापार स्वरूप स्फुरता रहेगा। 'मैं व्यापारी' प्रतीति जिसे है अर्थात् व्यापारी आत्मा का जो द्रष्टा है वह व्यापारहीन है यही वस्तुस्थिति पहचानी जाये यह ज़रूरी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दृश्यव्यतिरेक सहित दृश्यघटित का भी व्यतिरेक है, दृक् का ही अन्वय है— इस विवेक को यहाँ सूचित किया है।

जैसे बादल की क्रिया वायु-अधीन वैसे इन्द्रिय-व्यापार प्रारब्धाधीन अत: इन्द्रियों में भी औपाधिक ही व्यापारिता है, वास्तविक नहीं; पुन: अविवेकरूप या अज्ञानरूप उपाधिवश वह इन्द्रियव्यापार आत्मा में भास रहा है, इस प्रकार आत्मा पर जिस व्यापार का आरोप वह भी झूठा है! इस तरह वास्तविक व्यापार कहीं सिद्ध नहीं, भ्रमपरम्परा से ही स्वयं को व्यापारी समझे हैं, सुखी-दु:खी-बद्ध समझे हैं। अन्यत्र आचार्य ने दर्पणस्थ नगर के समान विश्व का निजान्तर्गत दर्शन जैसे बताया वैसे यहाँ समझना चाहिये। एवं च व्यापार समेत व्यापारी का मिथ्यात्व और आत्मा का सत्यत्व होने से जो शंका उठी थी कि आत्मा निर्विकार रहते विकारी प्रतीत होना असंगत, उसका उन्मूलन हो गया क्योंकि प्रथमत: तो शशी-दृष्टान्त से सविकार प्रतीत होने पर भी निर्विकार रहना सम्भव बता दिया तथा विकार को स्वयं ही मिथ्या स्थापित कर दिया। अत: यदि विकार सत्य होता तो भी उसकी आत्मा पर प्रतीतिमात्र से आत्मा विकारी नहीं हो जाता और जब वह है ही असत्य तब आत्मा की विकारिता संभावित ही नहीं है।।१८।।

पूर्व वर्णन से यह स्पष्ट नहीं होता कि उपाधि में चेतनता क्यों प्रतीत हो रही है। शशी में चलना बादलगति से हो पर बादल में चन्द्ररूपता या चन्द्र के गुणादि तो दीखते नहीं, ऐसे ही उपाधिव्यापार आत्मा पर आरोपित भले ही हो, उपाधि में आत्मरूपता कैसे भास जाती है? इतरेतराध्यास समझाने के लिये जैसे आत्मा में व्यापार वैसे उपाधि में चेतना संगत करते हुए चेतन की अनुवृत्ति एवं उपाधियों की व्यावृत्ति से आत्मस्वरूप की अनौपाधिक स्वतन्त्रता बताने को भूमिका रचते हैं—

आत्मचैतन्यम् आश्रित्य देहेन्द्रियमनोधियः ।
स्वकीयार्थेषु वर्त्तन्ते सूर्यालोकं यथा जनाः ।।१९।।

जैसे सूर्य के प्रकाश का सहारा लेकर लोग अपने कार्यों में संलग्न होते हैं वैसे आत्मा के चैतन्य का सहारा लेकर शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि अपने-अपने विषयों से व्यापार करते हैं।

आत्मा का स्वरूप है सत्य, ज्ञान, आनन्द। हमें उपाधि सत्य, अबाधित और आनन्द अर्थात् प्रिय लगती है। इसी तरह ज्ञान और स्वातन्त्र्य भी उपाधि की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निज विशेषता ही प्रतीत होती है। यहाँ तक कि चार्वाकादि स्थूलशरीर के ही तत्तद् भागों की तत्तत् प्रक्रियाओं को ही ज्ञान मानते हैं, ज्ञान कोई अभौतिक, अलौकिक वस्तु उन्हें स्वीकार नहीं। इस प्रकार, सत्यादि आत्मा के गुण प्रतीत हो रहे हैं देहादि उपाधि में। देहादि में आत्मविरोधी दृश्यता, विकार, परिच्छेद, दुःख आदि भी प्रतीत हो ही रहे हैं जिससे देहादि आत्मा ही है यह भी स्वीकार नहीं सकते। विचार करने से समझ आता है कि आत्मगुणों के सहारे उपाधि अपने कार्य करती है जिससे भ्रान्ति होती है कि ये गुण उपाधि के ही हैं। देहादि का आत्मा पर स्वरूपाध्यास अतः देहादिधर्मों का आत्मा में भास संगत है। आत्मा का देहादि से संसर्गाध्यास जिससे आत्मगुण भी देहादि में भास जाते हैं। जैसे भयानकता आदि गुणों समेत साँप का रस्सी पर स्वरूपाध्यास और रस्सी के पुरोवर्त्तित्वादि का साँप पर संसर्गाध्यास यों अन्योन्याध्यास (इतरेतराध्यास) से पुरोवर्त्ती भयंकर और साँप पुरोवर्त्ती दीखता है वैसे देहादि सच्चिदानन्द और प्रत्यगात्मा देहादिधर्म-सम्पन्न प्रतीत होता है। मनुष्य रूपादि-ग्रहण करना एवं इस प्रकार के व्यवहारों के लिये प्रकाश चाहता है, प्रकाश मनुष्य का स्वरूप तो नहीं लेकिन सूर्य से मिलते प्रकाश का वह उपयोग कर लेता है। दिन में सूर्यालोक के प्रति मनुष्य प्रायः वैसे ही आश्वस्त है जैसे अपने हाथ-पैर के प्रति! देहादि भी अपने योग्य व्यवहारों के लिये ज्ञान (चेतना) की अपेक्षा रखते हैं, ज्ञान उनका स्वभाव तो नहीं लेकिन आत्मा से अनवरत सुलभ है अतः देहादि उसी ज्ञान का प्रयोग करते हैं और इसमें इतने आश्वस्त हो चुके हैं कि उसे अपना स्वभाव ही समझ लेते हैं। गंगादितटवर्ती प्राणी जैसे जल की दुर्लभता की कल्पना भी नहीं कर पाता वैसे उपाधियों को ज्ञानानुपलब्धि की कोई कल्पना होना सम्भव नहीं। तथापि वस्तुस्थिति तो यही है कि प्रकाश सूर्य का और जल नदी का स्वरूप है, इसी तरह सच्चिदानन्द हमें (उपाधियों को) भले ही सुलभ रहें पर स्वरूप तो आत्मा का है।

आलोक का सहारा भी ऐसा है कि आँख से आलोक को एकमेक कर लेते हैं। देखने में आँख की वृत्ति कार्य करती है पर क्योंकि आलोक का साथ रहता ही है इसलिये अनेकों को भ्रांति है कि आलोक का ही आगमन होता है, चक्षु की कोई और वृत्ति है ही नहीं; अर्थात् आलोक-चक्षु का तादात्म्याध्यास ही आलोक का आश्रयण है। इसी तरह ज्ञानरूप आत्मा का आश्रयण भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तादात्म्याध्यासरूप ही है। विषयव्यवहार में आत्मचैतन्य ही समर्थ नहीं, देहादि उपाधियाँ ही समर्थ नहीं, दोनों का तादात्म्याध्यास रहते ही व्यवहार सम्भव है। आत्मा अखण्ड सच्चिदानन्दानन्त-प्रत्यक् है अर्थात् सत्त्व-चित्त्व आदि कोई पृथक्-पृथक् विशेषताएँ नहीं वरन् आत्मवस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे इन दृष्टियों से समझा जा सकता है। इसलिये 'आत्मचैतन्य' मायने आत्मरूप चेतनता; भले ही आत्मा की चेतनता कह-समझ लें क्योंकि शब्ददृष्टि से, प्रतीति-दृष्टि से चेतनता धर्म (विशेषता) समझ आती है, लेकिन मालूम रहे कि धर्म-धर्मिभाव है नहीं। अत: पद्मपादाचार्य ने आनन्द, विषयानुभव और सत्यत्व के लिये कहा है कि वे आत्मा से अपृथक् रहते भी पृथक्-जैसे प्रतीत होते हैं। अत: आत्मतादात्म्य होने पर ज्ञानादितादात्म्य स्वाभाविक है फिर भी योग्यतावश उपाधियाँ अनन्तता (व्यापकता) को अपने धर्म के रूप में नहीं ग्रहण करतीं, सत्यत्व-चैतन्यादिको ही करती हैं जैसे लोहा गर्मी व रोशनी दोनों को आग से ग्रहण करता है जबकि पानी गर्मी को ही ग्रहण करता है, रोशनी को नहीं। देहादि की सभी चेष्टाएँ, चाहे ज्ञानरूप हों या क्रियारूप, बिना आत्मतादात्म्य के असंभव हैं, स्वयं देहादि जड हैं, चेष्टा में अक्षम हैं। 'वर्त्तन्ते' अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप सार्थक व्यवहार करते हैं। यद्यपि विद्यमानता के लिये भी आत्मनिर्भरता है क्योंकि सत्ता-सम्बन्ध ही विद्यमानता है और सत्ता आत्मस्वरूप है, तथापि वह घटादि-साधारण है, देहादि उपाधियों का उल्लेख उतने मात्र के लिये नहीं वरन् ज्ञान-क्रियात्मक व्यवहार की आत्मनिर्भरता समझाने के लिये है। इस प्रकार जो शंका थी कि यदि आत्मा ही चेतन है तो उपाधियाँ कैसे चेतन प्रतीत हो रही हैं, उसका समाधान हो गया कि आत्मा से तादात्म्याध्यासवश वैसी प्रतीत हो रही हैं। स्वत:, स्वतंत्र चैतन्य आत्मस्वरूप ही है, स्वत: उपाधियाँ जड ही हैं, इसीलिये सभी उपाधियाँ परस्पर तो भिन्न हैं, पर चैतन्य सब में अनुगत है। स्थूल देह से बुद्धिपर्यन्त उपाधियाँ विभिन्न पर चैतन्य जो स्थूल में वही बुद्धि में। एक संघात से अन्य संघात भी विभिन्न लेकिन चैतन्य एक ही है। जैसे अनुवृत्त नट में व्यावृत्त हरिश्चन्द्र-नल-उदयन आदि आरोपित होते हैं वैसे अनुवृत्त आत्मा में व्यावृत्त सब उपाधियाँ आरोपित हैं। इस युक्ति से आत्मा संघात-विलक्षण जानना चाहिये।।१९।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैसे तादात्म्यवश चैतन्य देहादिगत प्रतीत है वैसे देहादिधर्म आत्मा में प्रतीत हैं कि मैं पैदा हुआ, बच्चा जवानादि रहा, देख-चल-सोच-समझ आदि रहा हूँ। इसलिये इन परिवर्त्तन-प्रतीतियों के बावजूद आत्मा विकारी नहीं है। यदि वही विकारी हो तो उसके विकारों के लिये उपाधिविकारों का उल्लेख चाहिये ही न रहे जबकि उपाधिविकारों का ही उल्लेख होता है, इससे अन्य कोई आत्मविकार अनुभव में ही नहीं आता। निर्वचन-योग्य किसी धर्म (विशेषता) का निर्वचन-योग्य कोई सम्बन्ध क्योंकि आत्मा से मिलना नहीं इसलिये स्पष्ट है कि निर्धर्मक वस्तु है। श्लोक १७ में कहे वैलक्षण्य का यह स्पष्ट रूप है, उपाधियाँ सधर्म हैं, आत्मा निर्धर्मा है। विकारी प्रतीत होते आत्मा को (स्वयं मुझे) निर्विकार समझाने के लिये उदाहरण देते हैं—

देहेन्द्रियगुणान् कर्माण्यमले सच्चिदात्मनि।
अध्यस्यन्त्यविवेकेन गगने नीलतादिवत् ॥२०॥

शरीर-इंद्रियों के गुणों व कर्मों का अविवेक से अध्यास निर्मल सद्रूप-चिद्रूप आत्मा पर वैसे ही कर रहे हैं जैसे गगन में नीलिमादि का अध्यास कर रहे हैं।

विषय-ज्ञान वृत्तिरूप होने से 'गुण' है, 'मुझे ज्ञान, मुझमें ज्ञान आदि अनुभव उसे मेरा 'गुण' बताते ही हैं, मैं प्रधान हूँ, ज्ञान गौण है, मुझ पर आश्रित है। भोग ज्ञानात्मक होता है अत: देहादि गुण से भोगमात्र समझने चाहिये। देहादिनिष्ठ क्रियावश 'मैं कर्त्ता, मेरी क्रिया' आदि अनुभव कर्तृत्व भी मेरा बताते हैं। यद्यपि इसे भी गुण कह सकते हैं तथापि उपस्थित-विषयता ज्ञान की विशेषता और अनुपस्थित को विषयकर उसे उपस्थित करना क्रिया की विशेषता होने से इनके अनुभव ही पृथक् हैं अत: कर्तृत्व-भोक्तृत्व का पृथक् उल्लेख ही संगत है। भोग व कर्म साक्षात् उपाधिगत ही हैं तथापि तादात्म्यवश आत्मा में माने जा रहे हैं जैसे पुत्री को समृद्धि-सम्पन्न जानकर उस समृद्धि का कोई उपयोग न करने वाले माता-पिता भी स्वयं उस समृद्धि से प्रयुक्त प्रसन्नता अनुभव करते हैं। जहाँ तादात्म्य नहीं ऐसे शत्रु की समृद्धि से कोई प्रसन्नता नहीं होती। कर्तृत्व-भोक्तृत्व की तरह उपाधि के सत्त्वादि गुण भी स्वयं आत्मा अपने पर आरोपित कर 'मैं सात्त्विक, राजस या तामस' ऐसा समझता है। सात्त्विकादि का अनुभव-सुखी, दु:खी, मुग्ध के रूप में ज्यादा सुलभ है। सत्त्वादि प्रकृतिरूप अत: प्राकृत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपाधियों में ही सम्भव, प्रकृति-साक्षी में नहीं लेकिन तादात्म्य यह भी दृढ अनुभूति करा ही रहा है। चाहे जो गुण हो या कर्म उसे कहा-समझा जाता है और उसका उपाधि-सम्बन्ध भी स्पष्ट है जबकि किसी गुण या कर्म का उपाधि का उल्लंघन कर आत्मा से कोई सम्बन्ध न अनुभव होता है, न कहा-समझा जाता है : मनोवृत्ति का उल्लंघन कर घटज्ञान भी आत्मसम्बद्ध नहीं प्रतीत होता है, देह का उल्लंघन कर चलना-बोलना आदि क्रिया भी आत्मसम्बद्ध नहीं प्रतीत होती। उपाधि-माध्यम से सम्बन्ध का मतलब ही है कि उपाधि से ही सम्बन्ध है, मुझ आत्मा से सम्बन्ध तो नहीं पर उपाधितादात्म्यवश भ्रांति है।

इसलिये निरूपणीय किसी विशेषता वाला न होने से निर्धर्मक आत्मा अमल (मलरहित) ही है। मल में गुण-क्रिया दोनों आ गये, दोनों से वह परे है अत: स्वभाव निर्मल है। वस्तुस्वरूप के प्रति अतिसावधान न होने पर उसे अन्यदीय गुणादियुक्त समझा जाने में आकाशनीलिमा का उदाहरण प्रसिद्ध है। नीलिमा आकाशगुण नहीं पर गगन में दीखती ऐसे ही है कि 'आसमान नीला है।' घटसत्ता, घटज्ञान आदि में मलसम्भावना होने पर भी ज्ञानमात्र, सन्मात्र में मल सम्भव भी नहीं, अनुभूयमान भी नहीं। अस्पष्टतादि ज्ञानदोष, वृत्तिज्ञानों में ही होते हैं, ज्ञानमात्र में नहीं। आधा होना-अपूर्ण होना आदि सत्त्वदोष भी विषयसत्ता में ही होंगे, सन्मात्र में नहीं। 'अविवेकेन अध्यस्यन्ति' का मतलब है 'अविविक्ततयाऽध्यस्यन्ति' अर्थात् तादात्म्येन अध्यास करते हैं। मरुमरीचिका-स्थल पर या नीलाकाश-स्थल पर 'भूतल पर जल है' या 'आकाश में नीलिमा है' यों संसृष्टतया (सम्बद्धरूप से) अध्यास है जबकि रज्जुसर्प स्थल पर पुरोवर्ती-तादात्म्येन अध्यास है कि जो सामने है वही साँप है। देहादिगुण-कर्म आत्मा पर सीधे तो तादात्म्येन भासेंगे नहीं, 'मैं गुण हूँ या कर्म हूँ' यह तो अनुभव होता नहीं, लेकिन गुण-कर्म का जिनसे तादात्म्य उन देहादि का तादात्म्य (अभेद) प्रतीत होता ही है। किं च 'मैं गुणी, कर्मी इस अनुभव में गुण-कर्म का मैं-से अभेद सहिष्णु ही भेद भासता है, आत्यन्तिक नहीं, इसलिये भी अविवेकेन अध्यास है। नीलिमा गुण स्पष्ट ही स्वतन्त्र वस्तु नहीं, द्रव्याश्रित ही है, गगन में किसी और की नीलिमा भास रही है—यह तो प्रतीति होती नहीं इसलिये गगन की ही नीलिमा प्रतीत होने से द्रव्य-गुण का जो प्रसिद्ध तादात्म्य वही गगन-नील में भासे यह संगत ही है। टीकाकार ने समझाया है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'अत्यन्तसामीप्याद् अविवेकतोध्यस्यन्ते'; जैसे अतिनिकटवर्ती दो वृक्ष दूर से देखने पर 'एक पेड़ खड़ा है' यों परस्पर अविविक्त दीखते हैं, दीख दोनों रहे हैं पर एक-दूसरे से अलग न दीखने से एक लग रहे हैं, वैसे देहादि के गुण-कर्म आत्मा के अतिनिकट होने से इससे अलग नहीं लगते। निकट इसलिये कि आत्मा पर ही अध्यस्त हैं। आकाश की नीरूपता के शास्त्रीय व यौक्तिक निर्णय के बल पर जैसे 'नीलाकाश'–प्रत्यक्ष बाधित है वैसे आत्मा की निर्गुणता-निष्क्रियता के शास्त्रीय एवं यौक्तिक निर्णय के ही आधार पर सगुण-क्रियता बाधित होती है इसीलिये यहाँ बाध अप्रतीतिरूप न होकर मिथ्यात्व-निश्चयरूप बताया गया है।।२०।।

गुण-कर्म आत्मा में वस्तुतः नहीं इसी को युक्ति से समझाते हैं ताकि आत्मा में अनवरत अनुभूयमान कर्तृत्वादि उसी के वास्तविक धर्म न समझ लिये जायें—

अज्ञानाद् मानसोपाधेः कर्तृत्वादीनि चात्मनि ।
कल्प्यन्तेऽम्बुगते चन्द्रे चलनादि यथाऽम्भसः ॥२१॥

मन उपाधि वाले के कर्तृत्वादि अज्ञानवश ही आत्मा में उसी प्रकार कल्पित हो जाते हैं जिस प्रकार पानी के हिलना आदि जलगत चन्द्र में अविवेक से कल्पित हो जाते हैं।

प्रतीतिसिद्ध कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सगुणत्व-मालिन्य आदि उसके धर्म हैं जिसने अज्ञानवश मन को अपनी उपाधि बना रखा है। प्रमाता के ये धर्म हैं, साक्षी के नहीं; प्रमाता स्वयं औपाधिक अतः मिथ्या है अतः उसमें मिथ्य धर्मों की प्रतीति असंगत नहीं पर साक्षी परमार्थ सत्य है, उसमें उनका अस्तित्व सर्वथा अयुक्त है, वहीं उनका बाध कर्त्तव्य भी है; 'प्रमाता अकर्त्ता है' यह समझने की ज़रूरत नहीं, वाच्य में कर्तृत्वादि भले ही रहें, 'साक्षी अकर्त्ता है' यों लक्ष्य को अकर्त्ता जानना ज़रूरी है। कर्तृत्वादि भाव हमें स्पष्ट मालूम रहते हैं, आत्मा के ज्ञेय हैं, आगमापायी हैं और इसी ढंग से समझे जा भी रहे हैं अतः उन्हें जानते साक्षिरूप आत्मा के वे स्वभाव हो ही नहीं सकते फिर भी कल्पना होती है कि 'मेरे ही हैं' क्योंकि 'मैं' के वास्तविक स्वरूप का हमें ज्ञान नहीं। उपाधि अर्थात् परिवर्त्तनादि प्रभाव न करने पर भी प्रभाव-प्रतीति में सक्षम; स्फटिक को न रंगने पर भी उसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रंगा प्रतीत कराने में सक्षम निकटस्थ फूलादि उपाधि प्रसिद्ध है। मन भी आत्मा को कर्तृत्वादियुक्त बिना किये उसमें उनकी प्रतीति करा लेता है अतएव उपाधि है। क्योंकि अन्यथा-प्रतीति सत्य-प्रतीति के समकाल असंभव है इसलिये अन्यथा भान को सम्भव बनाता अज्ञान स्वीकार है जो स्वानुभवसिद्ध भी है। स्वरूपज्ञान रहते तो औपाधिक प्रतीति असत्यता के उल्लेखपूर्वक होती है जैसे स्फटिक-ज्ञाता को, लेकिन अज्ञान रहते उसका मिथ्यात्व न भासने से सत्यत्व का भी आरोप हो जाता है।

दृष्टान्त दिया चन्द्र में गतिभ्रम का। जलाशयादि में चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़े और जल हिले तो प्रतिबिम्ब हिलेगा लेकिन जो यह न जाने कि 'चन्द्र आकाश में है' वह मान बैठेगा कि चन्द्र हिल रहा है क्योंकि बिम्ब-अज्ञानवश उसे प्रतिबिम्बता ही नहीं समझ आयेगी। चन्द्र-स्थल में भले ही यह स्थिति सुलभ न हो क्योंकि चन्द्र की आकाशस्थता सुप्रसिद्ध है पर अन्यत्र सुलभ ही है। चित्र सदोष देखकर, जिसका चित्र उसे दोषयुक्त समझा जाता है, ध्वनिदोष से शब्द दोषयुक्त समझा जाता है, बर्त्तन की खराब गन्धवश उसमें रखा भोजनादि खराब समझा जाता है इत्यादि। बन्धन, सुख-दुःख-परतन्त्रता हमें अपनी अनुभव हो रही है, वह भी उतनी ही सत्य जितने हम स्वयं सत्य हैं जबकि बन्धन-सत्ता व्यावहारिक ही है तथा औपाधिक (उपाधिपक्षीय) ही है। विवेक द्वारा उसे अपारमार्थिक एवं अ-स्वरूपगत निश्चित करें तभी उस बन्धहीन स्वरूपमें मैं-बुद्धि स्थिर रख पायेंगे जिससे उसकी ब्रह्मरूपता सुबोध हो जायेगी। इसके लिये कर्तृत्वादि की ज्ञेयता पर ख्याल रखना होगा, ज्ञेय अपने ज्ञाता से पृथक् होने से वे धर्म मेरे होना सम्भव नहीं, इस निश्चय पर पहुँचकर टिकना चाहिये।।२१।।

विवेक सम्भव बनाने के लिये आत्मा का स्वरूप समझना ज़रूरी और उसके बारे में प्रचलित भ्रम दूर करना ज़रूरी। ज्ञान-इच्छा-सुखादि अनेक अनुभूतियाँ अपने ही साथ जुड़ी मिलने से साधारण लोग इन्हें आत्मा की विशेषताएँ समझते हैं और न्याय-वैशेषिक आदि कुछ-एक दार्शनिक आत्मा को इन गुणों वाला कहते भी हैं। इससे 'मैं' के बारे में भ्रांति बनी रहती है। पंचदशी-चित्रदीप में (श्लो. ६०-१००), सिद्धान्तबिन्दु (श्लो.१) आदि अनेक जगह जीवविषयक विप्रतिपत्तियाँ एकत्र हैं। मैं-विषयक भ्रम दूर हों इस उद्देश्य से वैशेषिकादि-अनुसारी और सामान्यतः अनुभवस्तर पर स्वीकारा जाता स्वरूप आत्मा का नहीं हो सकता यह समझाते हैं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्त्तते।
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद् बुद्धेस्तु नात्मनः ॥२२॥

राग, इच्छा, सुख, दुःख आदि बुद्धि के ही धर्म हैं न कि आत्मा के, क्योंकि नियमतः तभी प्रवृत्त (उद्बुद्ध, कार्यकारी) होते हैं जब बुद्धि (प्रवृत्त) रहे, सुषुप्ति में, बुद्धि न रहते ये धर्म भी नहीं रहते।

यद्यपि बुद्धि (=ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ये विशेष गुण एवं संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग—ये सामान्य गुण आत्मा में वैशेषिक मत के अनुसार प्रसिद्ध हैं तथा द्वेष से उपलक्षणा राग की उचित है, तथापि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने राग को तृष्णा-नामक आसक्तिरूप दोष कहकर सभी दोषों को बुद्धि (=ज्ञान) के ही आश्रय में स्वीकारा अतः आत्मा का गुण माना है 'दोषास्तु बुद्धिसमानाश्रयत्वाद् आत्मगुणाः' (द्रष्टव्य वात्स्यायनभाष्य ४.१.३-४)। जीव को बेबस कर प्रवृत्त करते हैं, गलत को भी वह सही देखे ऐसा सम्भव करते हैं इसलिये रागादि दोष कहलाते हैं। राग-द्वेष-मोह ये प्रसिद्ध दोष हैं। इन्हीं के अन्तर्गत मात्सर्य, दम्भ, ईर्ष्या, संशय, प्रमाद, भय, शोक आदि समझे जा सकते हैं। सभी लोग ज्ञान-सुखादि को अपनी, आत्मा की, 'मैं' की विशेषता अनुभव करते हैं, इसका समर्थन गौतम-कणाद से मिल जाता है। प्रश्न उठता है कि आत्मगुण होते तो नियमतः बुद्धिसंनिधि अर्थात् मनःसंयोग पर क्यों निर्भर करते? कणादादि कहते हैं कि मनःसम्बन्ध से ये गुण पैदा होते हैं इसलिये उस पर निर्भर हैं। साधारण लोग तो मैं और मन का ऐसा अन्तर पहचानते नहीं कि उक्त प्रश्न का जवाब दें लेकिन वैशेषिकादिकी बात कुछ समझ आती है। इतना ज़रूर है कि जनसामान्य कहेगा कि मन सक्रिय होने पर ज्ञानादि होते हैं, वह निष्क्रिय (=निर्वृत्तिक) हो तब नहीं; संयोगविशेष-पर्यन्त समझना कठिन और पारिभाषिक है।

किन्तु सिद्धान्ती वेदानुसार, समझाता है कि रागादि मनोवृत्तियाँ (मनोधर्म) ही हैं, वे आत्मधर्म हैं ही नहीं अतः पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेक संगत है कि बुद्धि-सत्त्व में रागादि हों, बुद्धि न रहने पर न हों। 'बुद्धिसत्त्व' अर्थात् बुद्धि, मन, अन्तःकरण को 'है' ऐसा जब जाना जाये। स्वतः तो अनादि प्रवाह में मोक्षपर्यन्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बुद्धिसत्त्व ही है अन्यथा कर्म-फल व्यवस्था न हो, मोक्ष ही सर्वसुलभ हो क्योंकि कर्म प्रतिजीव बुद्धि-उपाधिवश ही नियत है एवं बन्धन भी उसके रहते प्रकट है। सवृत्तिक अर्थात् कार्यकारी रहते बुद्धि 'है' समझी जाती है और उसी दौरान रागादि प्रतीत होते हैं क्योंकि ये धर्म ही बुद्धि के हैं। सुषुप्ति में बुद्धिसत्त्व न रहने पर रागादि कोई धर्म नहीं भासते। तब भी आत्मसत्त्व मना नहीं किया जा सकता क्योंकि 'सुख से सोया' यह स्मृति सुषुप्ति के दौरान सुखानुभव प्रमाणित कर रही है। सुषुप्ति के दौरान बुद्धि 'नष्ट' अर्थात् अदृष्ट, अननुभूत रहती है जिसे कहते हैं कि कारण में लीन रहती है, कारणरूप से रहती है। सर्वथा नष्ट (ध्वस्त) हो जाये तो 'लिंगभंगो हि मोक्षः' के अनुसार मुक्ति ही मिल जाये! कारण में संस्कार-शेष रहना ही नाश और बाध ही आत्यन्तिक नाश है यह स्वीकार्य व्यवस्था है। सुषुप्ति मेरी अवस्था है, मैं उसे पाना चाहता हूँ, बारम्बार चाहता हूँ, इसीलिये रागादि वाली बुद्धि पर्यन्त सब उपाधियाँ छोड़ता हूँ; इससे स्पष्ट है कि मुझे स्वयं की, अकेले खुद की अवस्था अधिक पसंद है, रागादियुक्त बुद्धि के साथ वाली अवस्थाओं की अपेक्षा। जगते समय सोने की इच्छा जरूर होती है, ऐसे सोते समय (सुषुप्ति में) जगने की (या और भी कोई) इच्छा नहीं होती। जगते समय सुषुप्ति व उसका सुख याद आता है, सोते समय जाग्रत् व उसका कोई वैशिष्ट्य याद भी नहीं आता। इस सबसे स्पष्ट है कि मैं स्वयं को परम प्रिय हूँ, रागादि वाली बुद्धि का साथ होने पर कुछ परेशानी अवश्य महसूस करता हूँ अर्थात् किसी अंश में दुःखी हो जाता हूँ। इसलिये मैं और बुद्धि आपस में सर्वथा पृथक् ही हैं यह निश्चित है। यद्यपि वृत्तिरूप ज्ञान व सुख बुद्धि के बिना नहीं तथापि स्वरूपभूत रहते ही हैं क्योंकि वृत्तिरूप वे वास्तव में ज्ञान या सुख हैं ही नहीं। वस्तुतस्तु आचार्य ने श्लोक में रागादि के अन्तर्गत ज्ञान नहीं रखा क्योंकि उसका सुषुप्ति में अन्वय समझाना है एवं सुषुप्ति में सुख के बजाये आनन्द का अस्तित्व ही रहता है अतः रागादि से बुद्धिधर्म ही ग्राह्य हैं। सविषयता सुख की और निर्विषयता आनन्द की विशेषता है, इससे बुद्धिधर्म और सौषुप्त, दोनों सुखों का भेद है। ऐसे बौद्धिक व आत्मीय ज्ञानों में अन्तर है। सुषुप्ति में स्वरूपभूत ज्ञान व आनन्द है, वृत्तिरूप (=मनोवृत्तिरूप) नहीं है। बुद्धि-रागादि का सम्बन्ध निश्चित होने से इन्हें उसी की विशेषता समझना पड़ेगा इसलिये ये आत्मा के स्वरूप या धर्म नहीं हैं।।२२।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विस्तार से समझाया कि आत्मा कैसा नहीं। अब बताते हैं कि कैसा है। कैसा-पन कोई विशेषतारूप से समझा नहीं सकते क्योंकि विशेषतारूप ऐसा-वैसापन आत्मा में नहीं। उसका स्वभाव ही समझ सकते हैं जिससे उसके बारे में कैसेपन की शंका मिटती है। विशेषता समझे जाने वालों को स्वभावरूप से समझा जा सकता है इसे उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए आत्मा का स्वभाव कहते हैं—

प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यम् अग्नेर्यथोष्णता ।
स्वभावः सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलताऽऽत्मनः ॥२३॥

जैसे सूर्य का स्वभाव प्रकाश है, जल का स्वभाव ठण्डापन, अग्नि का स्वभाव गर्मी, वैसे सत्-चिद्-आनन्द-नित्य-निर्मलता आत्मा का स्वभाव है।

सूर्य में या सूर्य का प्रकाश अथवा जल की ठंडक, आग की गर्मी-इत्यादि भेदव्यवहारवश प्रकाश-शीतलता-गर्मी को सूर्य आदि की विशेषता समझते भले ही हैं पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि ये उनके स्वभाव अर्थात् स्वरूप ही हैं, भेद-सम्बन्ध से रहती विशेषताएँ नहीं। सूर्य-आग तो रोशनी-गर्मी से कभी हीन नहीं मिलने से उन्हें स्वरूप मानना सरल लेकिन पानी तो खौलता भी मिलता है अतः शंका होती है कि गर्मी की तरह ठण्डक उसकी विशेषता कैसे नहीं? समाधान है कि गर्म होने के लिये जल किसी तरह आगादि पदार्थान्तर पर निर्भर है, ठण्डा होने के लिये किसी पर निर्भर नहीं इसलिये ठण्डक उसमें स्वाभाविक स्वीकार है। इस प्रसंग में ठण्डक-गर्मी किसी तापमान विशेष के अनुसार नहीं कही जा रही वरन् सामान्य तापमान व दबाव में रखे जल को छूने पर वह जैसा प्रतीत हो उसे ठण्डक कह रहे हैं और लकड़ी, कोयला, गोबर जलने पर निकलती लपटों का जो स्पर्शानुभव उसे गर्मी कह रहे हैं। ईंधन-विशेष के अनुसार तापमान बदलना ईंधनौपाधिक है, वह्नि-स्वभावानुसारी नहीं। जल-शैत्य में यह तथ्य स्पष्ट है। स्वातिरिक्त किसी की अपेक्षा न रखकर वस्तु जैसी निश्चित हो वह उसका स्वभाव है। निमित्त-विशेष से अभिभूत भले ही हो पर स्वभाव वस्तु को छोड़ता कभी नहीं, वस्तु रहे, उसका स्वभाव न हो ऐसी परिस्थिति नहीं बनती। अतएव स्वभाव बदलता नहीं। प्रकाश-उष्णता-शैत्य से सत्त्व-रज-तम भी सूचित हैं; ये स्वभाव हैं, धर्म नहीं; प्रकृति के ये धर्म प्रतीत होते हैं लेकिन प्रकृति है ही त्रिगुणात्मक।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव सच्चिदादि है। गीताभाष्य में समझाया है कि जिसे विषय करता ज्ञान बदलता नहीं वह सत् और जिसे विषय करता ज्ञान बदल जाता है वह असत् है। घट है-घट नहीं है—इन दोनों में घट-घटाभाव ये तो बदल गये इसलिये दोनों असत् जबकि है—यह नहीं बदला इसलिये सत्। घट की जगह पट हो तो भी घट-बुद्धि तो नहीं रह जाती लेकिन है-बुद्धि फिर भी बनी रहती है। इसलिये है-ज्ञान का विषय 'सत्' कहलाता है। 'है-नहीं है' का अन्तर इनके बारे में अनुभव पर निर्भर है, 'बुद्धितन्त्र' है। सारे व्यवहारों में पदार्थों का ज्ञान होते समय 'है' भी प्रतीत होता है – घड़ा है, कपड़ा है आदि। किन्तु जैसे 'नीला कमल' आदि में विशेषण-विशेष्यता अनुभव होती है वैसे है या घड़ा आपस में सम्बद्ध नहीं प्रतीत होते वरन् यही अनूभूति है कि जो घड़ा वही है, जो है वही घड़ा। इसी को पारिभाषिक शब्दों में कहा जाता है कि दोनों ज्ञान 'समानाधिकरण' हैं। इन में घटादि चीजों के बारे में ज्ञान बदलता ही रहता है, है के बारे में नहीं ही बदलता। इसी को कहते हैं कि जिसके बारे में नहीं ही बदलता वही है समझना चाहिये। जो तो 'घड़ा नहीं है' आदि अनुभव 'नहीं' है को विषय करते प्रतीत होते हैं वे वास्तव में 'घड़ा नहीं' को ही विषय कर रहे हैं न कि 'है नहीं' को, अर्थात् निषेध घड़े का ही होता है न कि है का। इसलिये भाव या अभाव किसी का ज्ञान हो, है का ज्ञान एक-सा बना ही रहता है। बाह्य विषय जगत् एवं अध्यात्म पाँचों कोषों के बारे में ज्ञान बदलने वाला होने से ये सब असत् हैं, इनसे विलक्षण आत्मा ही स्वरूपत: सत् है। वही बाध के सर्वथा अयोग्य है, सत्य है। उसी का भान कभी निषेध के रूप में नहीं होता। शास्त्रीय शब्दों में कहा जाता है 'नञर्थानुल्लिखितधीविषयतारूपा भावता अस्तिता'। अस्ति मायने है, अस्तिता अर्थात् है-पना को 'भावता' भी कहते हैं जिसकी परिभाषा की जा सकती है कि जिसके बारे में ऐसा ज्ञान सम्भव न हो जिसमें 'न अर्थ' या अभाव प्रतीत हो! यद्यपि अभाव-घटित भावलक्षण संगत नहीं तथापि नञर्थ ('नहीं' का अर्थ) के रूप में अभाव कहने-समझने में भाव-निर्भरता नहीं रहने से दोष नहीं। जिसका ज्ञान हो, जिसका विचार हो सके अर्थात् जो विचार सहन करे, विचार से कट न जाये, जिसका लाभ वास्तविक हो सके अर्थात् जिसकी उपलब्धि नश्वर, बाध्य न हो वही 'है' समझना चाहिये, वही आत्मा का सद्रूप है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्मा की अन्य पहचान ज्ञान है। इसे भी हम विषयादि-आकार वाले वृत्ति ज्ञानों में पाते हैं, उन्हीं के सहारे आत्मस्वरूप समझना पड़ेगा। वृत्ति में सामर्थ्य है कि आत्मा की चिद्रूपता अर्थात् ज्ञान को इस काम में ले कि जड विषय 'प्रकट' अर्थात् ज्ञायमान हो जायें, 'जाने जा रहे हैं' ऐसी उनकी प्रतीति हो। जड कहलाता ही वह है, जिसे 'जाना जा रहा है' न कह सकें। चेतन वही है जो हमेशा ऐसे ही सिद्ध है कि 'जाना ज्ञा रहा है'। वृत्ति सम्भव करती है कि जड भी घड़ा जाना जा रहा समझा जाये! इसी को कहते हैं कि 'चैतन्याभिव्यञ्जकत्वम्' वृत्तिज्ञान की विशेषता है। जिन सबके लिये ज्ञायमानता वृत्तिनिर्भर वे जड, जिसके लिये वृत्ति नहीं चाहिये वह चेतन है। इसी की विशेषता चैतन्य को घटादि विषय से अवच्छिन्न कर प्रकट करने के चलते बुद्धिवृत्ति ज्ञान कही जाती है लेकिन वस्तुतः चित्, ज्ञान तो आत्मा है जिसका स्वतन्त्र स्वभाव 'जाना जा रहा है' समझ आये। इसलिये वृत्ति चैतन्य प्रकट करने के लिये जिस पर निर्भर वह चित् 'स्वप्रकाश अभिव्यक्ति' है। इसके बारे में प्रमाण पूछने पर प्राचीन आचार्यों ने कहा है 'त्वमेवाऽस्माकं प्रमाणम्' पूछने वाला ही इसमें प्रमाण है! नाम-रूप-कर्म के आकार लेने के लिये वृत्तिज्ञान ही समर्थ है, आत्मस्वरूप ज्ञान आकार, विषय से सर्वथा असम्बद्ध, निर्विकार सनातन एक रहा है। वृत्तिभेद से ही इसके संज्ञान, विज्ञान आदि अनेक रूप ऐतरेयादि में दिखाये, और भी अनुभूयमान भेद समझ सकते हैं जिन सबमें अनुगत एकरूप 'प्रज्ञान' को वहाँ आत्मा का स्वभाव बताया। 'मनसो मनः' आदि में जो षष्ठ्यन्त मन आदि वे वृत्तिपक्षीय ज्ञान का प्रदर्शन करते हैं और प्रथमान्त बताते हैं स्वरूपभूत अद्वितीय चित् को। प्राण-मन-चक्षु-श्रोत्रादि सब जिसके सहारे प्राणनादि में समर्थ वह चित् तत्त्व एक ही है। कठ में इसे 'शान्त आत्मा' तथा अव्यक्त से परे पुरुष कहा। मुण्डक इसे अद्रेश्य-अग्राह्य अक्षर तथा माण्डूक्य 'एकात्मप्रत्ययसार' आत्मा कहती है। इन्द्र को प्रजापति ने अतिविस्तार से इसी चित्स्वरूप का विवेक कराया एवं याज्ञवल्क्य ने यही तत्त्व ज्योती-रूप बताया। वास्तव में चित् होने से ही अद्वैत सम्भव बनता है, अन्यथा सत्-आनन्द के भान के लिये कोई-न-कोई चाहिये ही रहता। प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय-प्रमिति का भासक चित् है। अतः गीता में उसे 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः तमसः परम्' (१३.१७) बताया। मनोवृत्तिरूप ज्ञान को आत्मस्वरूप ज्ञान पर आश्रित भी भगवान् (१५.१५) 'मत्तः ज्ञानम्' से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बताते हैं। वृत्तिरूप ज्ञान तो सात्त्विकादि त्रिविध है, साक्षिरूप ज्ञान एकरस नित्य है।

अविद्या व्यावहारिक होने से इसे हटाने के लिये व्यावहारिक वृत्तिज्ञान चाहिये, स्फुरण के लिये नहीं। आवरणभंग हुए चेतन से घटादि तादात्म्य वाले होने से वे भी भास जाते हैं, इसी को 'फल' बताया—भग्नावरणचित्तादात्म्य। स्वयं चेतन स्वतो भासमान रहने से आवरणभंग ही अपेक्षित है, फल की न ज़रूरत है न संभावना। प्रमा-भ्रम-संशयादि भेद वृत्ति के हैं, ज्ञान इन भेदों वाला नहीं। सदा भासने वाला एक ज्ञान ही आत्मस्वभाव है, जन्मादि वाला वृत्तिज्ञान नहीं लेकिन स्वभावभूत ज्ञान समझने के लिये सहारा वृत्तिरूप ज्ञान ही है। दोनों की 'ज्ञानता' में फ़र्क़ जरूर है पर एक स्थिति है जहाँ दोनों आपस में मिले रहते हैं, उसी को ज्ञान-शब्द का वाच्य अर्थ कहा जाता है। साभास वृत्ति ही व्यवहार-स्तर का ज्ञान है। उसमें एक भाग वृत्ति जो स्वरूप से जड, दूसरा भाग 'आभास' जो अपने मूल रूप (बिम्बरूप) में चेतन है अतः मिली-जुली स्थिति में जन्म-नाश-आकारादि जडधर्म और भानरूप चेतनधर्म दोनों उपलब्ध हैं। वहीं विवेक से जडधर्मों से रहित भान को समझा जा सकता है, जिसे फिर ज्ञान-शब्द का लक्ष्य अर्थ जानकर 'ज्ञानम् आत्मा' व्यवहार होगा। आत्मा का स्वरूप ज्ञान है लेकिन ज्ञानपद का वाच्य नहीं वरन् लक्ष्य ही आत्मा का स्वरूप है। वस्तुतः सद्-आनन्द में भी वाच्य-लक्ष्य की ऐसी ही व्यवस्था है और लक्ष्य ही आत्मस्वरूप है।

तीसरा स्वभाव आत्मा का है आनन्द। जिस विशेषता के कारण कुछ भी प्रिय होता है उसे सुख या आनन्द कहते है। प्रियता ही आनन्द का लक्षण, पहचान है। जब कोई व्यक्ति या वस्तु प्रिय तो हो लेकिन 'किसी लिये', तब उसे 'अन्यार्थ या अन्यशेष प्रिय' कहते हैं। जैसे रसगुल्ला प्रिय तो है पर खाने के लिये, सुन्दररूप प्रिय है देखने के लिये इत्यादि, इसलिये इन चीज़ों से प्रेम 'अन्यार्थ, अन्यशेष' है। ऐसे ही व्यक्तियों से भी बहुधा 'किसी लिये' प्रेम होता है, उसके गुणों के लिये, कर्मों के लिये, सम्बन्धों के लिये, इत्यादि। जहाँ 'किसी लिये' न हो, जिससे है उसी लिये हो वहाँ परम प्रेम कहते हैं। सावधानी से देखें तो स्वयं अपने आपको छोड़कर कहीं भी प्रेम 'किसी लिये' होता है, सिर्फ़ स्वयं से प्रेम बगैर 'किसी लिये' है। अतः याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मा की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आनन्दरूपता इसी से समझाई कि वह 'परम प्रिय' है। जिससे प्रेम हो वह हमें सुख प्रतीत होता है। जिससे 'किसी लिये' प्रेम है वह उस 'लिये' (प्रयोजन) को सम्पन्न करे तब सुख होगा लेकिन जिससे 'किसी लिये' नहीं है उससे सदा सुख होगा। प्रेम की कमी-अधिकता से सदा रहते भी कम -ज्यादा प्रतीत हो सकता है लेकिन कमी-अधिकता प्रेम में है, सुख में नहीं। यह सदा एकरस सुख ही आत्मस्वरूप आनन्द है, अन्यार्थ प्रिय प्राय: वैषयिक सुख है और साधारणत: उसे ही सुख कहा-समझा जाता है अर्थात् वाच्य, व्यावहारिक वही है; लक्ष्य, पारमार्थिक आत्मस्वभाव है। विषयसुख का अस्तित्व वृत्तिरूप से ही सम्भव है, आत्मसुख वृत्ति-निरपेक्ष भी है ही, सनातन है। वृत्तिमात्र में सुखता और आत्ममात्र में सुखता विभिन्न हैं पर जब इनका मेल वृत्तिस्तर पर (साभासवृत्ति में) होता है तभी सुख, आनन्द शब्द का वाच्य अर्थ पता चलता है, उसी में सुख-शब्द की शक्ति है। वृत्ति भी वहाँ होने से जन्म-तारतम्य-सात्त्विकतादि जडधर्म भी वहाँ प्रतीयमान हैं और भासमान प्रियतारूप सुख भी। विवेक से इनका अन्तर समझकर सुखशब्द के लक्ष्यरूप पारमार्थिक पूर्ण आनन्द को ब्रह्म जानना पड़ेगा तब 'आनन्दं ब्रह्म' का बोध होगा।

सुख अभीष्ट ही रहता है, उसका स्वभाव ही है हमेशा चाहा जाना। जहाँ उसकी अभीष्टता किसी प्रतियोगी के निरूपण पर निर्भर हो वहाँ विषयसुख समझना चाहिये 'प्रतियोगिनिरूपणाधीनत्वे स्वभावत इष्यमाणत्वं सुखलक्षणम्'। प्रतियोगी अर्थात् सुख के हेतुरूप से सम्बन्धी। पुत्र जिस सुख का कारण बने उसे 'पुत्र-सुख' कहते हैं। वस्त्र-सुख और पुत्र-सुख इनमें जितना खोजें, फ़र्क़ वस्त्र, पुत्र में ही मिलेगा, इनके निरूपण के बिना सुख में कोई फ़र्क़ मिल ही नहीं पायेगा! स्वरूप से सुख एक, अखण्ड, एकरस ही है लेकिन विषयभेदवश इसमें अनन्त भेद सर्वत्र अनुभूयमान हैं। वास्तव में प्रेम सुख से लेकिन भ्रमवश उसके निरूपकों को, विषयादि को प्रिय मान बैठते हैं, जो दु:ख एवं बंधन का कारण है। जैसे घड़ा सभी चक्षुष्मानों को घड़ा ही दीख सकता है वैसे 'सुख' सभी मनवालों को प्रिय ही दीख सकता है किन्तु निरूपक विषयों के बारे में यह कहना नहीं बनता अत: विषय और व्यक्ति किसी को प्रिय किसी को अप्रिय, कभी प्रिय कभी अप्रिय होते रहते हैं जिससे संशय हो जाता है कि सुख वस्तुस्वभाव कैसे हो सकता है; विचार करें तब समझ आता है कि भ्रांत प्रियता ही हटती है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वास्तविक प्रियता जहाँ है वहाँ सुखता ही है, प्रेम हटता ही नहीं और सभी को उससे प्रेम ही रहता है। आत्मा ही आनन्द होने से आत्मा सभी को हमेशा ही प्रिय है, कृमिपर्यन्त आत्मप्रेम यथावत् है। ऐसी प्रियता जिसका लक्षण उस सुख में किसी निरूपक की आवश्यकता कभी पड़ती ही नहीं अतः 'निरुपाधिप्रेमास्पदत्वम् आनन्दलक्षणम्'। 'उपाधि' से विषय समझने चाहिये। जहाँ 'लड्डूका, कपड़े का, गाय का, पुत्र का' आदि 'किसी का' सुख अनुभव हो वहाँ सोपाधिक है, जहाँ 'किसी का' न प्रतीत होते सुखानुभव हो वहाँ निरुपाधिक आनन्द है। सुषुप्ति, सन्तोष आदि स्थितियों में अनुभव में आता रहता है पर उधर ज़्यादा ध्यान न देने से भ्रान्ति चलती रह गयी और हम भी उपाधि-प्रेम में खो गये! प्रियवियोग असह्य, विषयवियोग अनिवार्य, यही सूचित करता है कि जिसे छोड़कर चले ही जाते हैं उन विषयों से, पदार्थों व लोगों से वस्तुतः प्रेम हो ही नहीं सकता, अन्यथा जाते ही नहीं, केवल भ्रमवश कहते-मानते हैं कि हमें विषयादि से प्रेम है। विद्यारण्य स्वामी ने पंचदशी के अन्तिम पाँच प्रकरणों में आत्मा के स्वरूपभूत आनन्द को अतीव स्पष्टतः हृदयंगम करने के लिये आवश्यक प्रायः सारा विवेक उपस्थित कर दिया है।

श्रुति ने एक रहस्य उद्घाटित किया जो विवेक से नहीं पता चलता कि पूर्ण, व्यापक ही आनन्द है, परिच्छिन्न नहीं 'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखम् अस्ति'। आनन्द का यह आयाम मोक्षदशा में स्फुट होता है जहाँ सर्वात्मरूपता भासती है। इसका अनुभव भी प्रत्यग्रूप ही सम्भव है अतएव भूम को आनन्द समझना और प्रत्यक् को पूर्ण समझना एक ही बात है। भूम-विद्या के समापन में आत्मा की सर्वत्रता इसीलिये अहंकारादेश से भी कही। इस पूर्ण आनन्द के आविर्भाव के लिये तैत्तिरीय में सारी कामनाएँ 'एक-साथ' पूरी होना कहा। यह संकल्पना ही विचित्र है। भोग द्वारा कामनापूर्ति यों सब कामनाओं की, युगपत् नहीं हो सकती; एक-एक की क्रमशः ही सम्भव है। यदि सर्वात्मभाव अर्थात् सब जीवों से एकतानुभूति भी हो जाये तो सभी की सब कामनाएँ अपनी ही लगेंगी, फिर भी सब एक-साथ भोगी नहीं जायेंगी। किंच असम्भवविषयक भी कामना हो ही जाती है, उसे भोगकर पूरा किया भी नहीं जा सकता। इसलिये श्रुतिकथन का रहस्य दुर्बोध है। स्वयं वेद ने इसे स्पष्ट किया 'अकामो निष्काम आप्तकामः आत्मकामः' (बृ.४.४.६) द्वारा अर्थात् विषय-विषयी के बाध से सर्वकाम-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निवृत्ति ही पूर्णकामता है। इसे 'किमिच्छन्' और 'कस्य कामाय' (बृ.४.४.१२) द्वारा स्पष्ट किया। कठ में 'सर्वकामप्रमोचन' से भी यह समझाया। भगवान् ने आत्मरति-आत्मतृप्ति-आत्मसन्तुष्टि शब्दों में इस स्थिति को व्यक्त किया है। आनन्द-तारतम्य कहते हुए श्रुति 'अकामहत' होने का महत्त्व बार-बार समझाकर यही रहस्य उद्घाटित करती है कि कामना की आत्यन्तिक निवृत्ति ही आनन्द-प्राप्ति के लिये आवश्यक है अर्थात् कामना ही आनन्द को आच्छादित किये है, वह निवृत्त (समाप्त, निरस्त) होते ही स्वरूपभूत आनन्द अनावृत होता है। सच्चिद्रूप आत्मा यदि आनन्दरूप न हो तो भी अद्वैत सम्भव नहीं क्योंकि चेतन आनंदेच्छुक रह जायेगा अत: इच्छा-पूर्ति के लिये सद्वितीय रहेगा क्योंकि अरति से ही द्वैतभाव की प्राप्ति वेद ने कही है। एवं च अद्वैत और अनन्त दोनों दृष्टिकोणों से आत्मा का आनन्दरूप होना योग्य है, श्रुतिप्रमाणित तो है ही।

सच्चिदानन्द की तरह नित्यता आत्मा का स्वभाव है। देश-काल से जिसका सद्भाव (सत्त्व) अवच्छिन्न (परिसीमित) नहीं वह नित्य कहलाता है। तात्पर्य है कि जिसे किसी समय या कहीं 'नहीं है' न समझा जा सके वह नित्य है। जन्म और नाश से रहित जो 'है'-प्रतीति से ज्ञेय वह नित्य कहलाता है। शाब्दिक दृष्टि से 'ध्रुव' अर्थ में 'त्यब्'-प्रत्यय लगाकर 'नियमेन भवम्' के अभिप्राय से 'नित्य'-शब्द बना है। 'त्यब् नेर्ध्रुवे' (वार्ति.४.२.१०४)। इस दृष्टि से नित्य मायने जिसका स्वभाव भी एकरस है, बदलता नहीं। निश्चित स्वभाव वाला नित्य है। सत्त्व (=होना) उसका स्वभाव है अत: सदा-सर्वत्र सत्त्व-स्वभाव वाला ही होगा तो देश-काल में व्यापक होना संगत है। सत्त्व जैसे चित्त्वादि भी स्वभाव ही हैं अत: सभी तरह से वह एकरस होने से नित्य है। क्योंकि तत्त्वबोध से निवर्त्त्य है इसलिये अविद्या आत्मा का 'स्वभाव' नहीं है अन्यथा आत्मा अविद्यारहित हो नहीं सकेगा! अनादि, अकारण होने से स्वभाव या स्वाभाविक कह तो दिया जाता है अज्ञान को लेकिन यावद्वस्तु रहने वाला ही स्वभाव होने से अविद्या स्वभाव कहलाने योग्य नहीं। अथवा उसे व्यावहारिक स्वभाव जबकि सत्त्व-चित्त्वादिको पारमार्थिक स्वभाव समझ लेना चाहिये। कुछ चीज़ें 'प्रवाह नित्य' कहलाती हैं अर्थात् उनके जैसी चीज़ बनी रहती है, भले ही प्रत्येक चीज़ नष्ट हो जाती है जैसे नदी की धारा नित्य है जबकि हर बूँद नयी आती-जाती है या सदस्य जीते-मरते रहते हैं पर कुल या संस्थायें नित्य रहती हैं इत्यादि। कुछ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चीज़ें 'परिणामी नित्य' कहलाती हैं अर्थात् वस्तु की अवस्थाओं में अन्तर आता है फिर मूलरूप से वह चलती रहती है जैसे मिट्टी बनी रहती है, उसकी स्थितियाँ चूर्ण, लौंदा, घड़ा, ईंट, पत्थर आदि बदलते रहते हैं या 'दूध' बना रहता है, तरल (पेयाकार), जमा (दही-आकार), फटा (छेना-आकार), घना (मावा-आकार), मथा (मक्खन-आकार), पिघला (घी-आकार) आदि आकार बदलते रहते हैं। परिणाम होते-होते कभी वस्तु 'नहीं है' मान ली जाती है लेकिन विवेकदृष्टि से उसका अस्तित्व स्वीकारना पड़ता है जैसे घी को दूध समझा तो नहीं जाता लेकिन पूछें कि घी-आकार में जो अवयव वे हैं किसके अर्थात् घी का उपादान है कौन, तो उत्तर में 'दूध' ही कहना पड़ेगा। अतः चाहे बदली दशा में हो पर दूध है सही। ऐसी चीज़ें परिणामी नित्य कहलाती हैं। आधुनिक भौतिकी में द्रव्य-ऊर्जा को ऐसा ही नित्य मानते हैं। सांख्य-संमत प्रकृति भी परिणामी-नित्य है। आत्मा ऐसे नहीं वरन् 'कूटस्थ नित्य' है अर्थात् न उसका 'व्यक्तिशः' नाश है न उसमें अवस्थाओं का अंतर है। आत्मा से अन्य सब अनित्य ही है अतः आत्मा को समझने का ढंग ही अनित्य से नित्य को अलग समझना है। लौकिक 'नित्यों' में भी नित्यता आत्मा की ही भासती है, भले ही भ्रम से भास रही हो। उपलब्ध सत्त्व से काम चलते जैसे सत्त्वान्तर अस्वीकार वैसे उपादान की नित्यता ही कार्यों में कहीं-कहीं 'कार्यों की' लगने लगती है। इसलिये 'नित्यो नित्यानाम्' यह भी पदच्छेद मान्य है अर्थात् (नित्य प्रतीत होती) चीज़ों को नित्य प्रतीत कराता है। व्यावहारिक नित्यों में नित्य-पद की शक्ति ग्रहण कर लक्षणा से परमार्थ नित्य आत्मा समझना संगत है। 'अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' से आत्मा की नित्यता पूछी जाने पर विस्तार से उसे 'स एवाद्य स उ श्वः' से नित्य सिद्ध किया। तैत्तिरीय में मुख्यतः उसे 'अनन्त' कहा। अन्यत्र अमृत-आदि शब्दों से समझाया। क्योंकि एक आत्मवस्तु से अतिरिक्त ऐसा नित्य कुछ है नहीं अतः इस बारे में प्रश्न उठते रहते हैं, विभिन्न रीतियों से समाधान किये जाते हैं। 'न त्वेवाहं जातु नासम्' 'न जायते म्रियते वा' आदि से भगवान् भी आत्मनित्यता समझाते हैं। 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' अर्थात् प्रलयाधार बताकर श्रुति ने सारे संदेह दूर कर दिये क्योंकि प्रलय भी आत्मा पर ही आधारित रहने से आत्मा 'का' प्रलय असंभव है!

आत्मा स्वभाव से निर्मल है। मिथ्याज्ञान (माया), कर्म, रागादि मल अर्थात् जीव को सदोष बनाने वाले कहे जाते हैं। शैवदार्शनिक तो इन्हें पशुता का मूल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानते हैं अर्थात् मलिन जीव पशु ही है! गौडपादकारिकाभाष्य में (३.८) क्लेश-कर्म-फलों को मल कहा है। अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश प्रसिद्ध क्लेश हैं। कहीं रजोगुण-तमोगुण मल कहलाते हैं, कहीं जन्मजरादिदु:ख को मल कहते हैं। अस्वाभाविक वस्तु, गुणादि अथवा प्रयोजन-विरोधी विशेषताएँ मल समझी जाती हैं। शब्ददृष्ट्या 'मल धारणे' (भ्वा.आ.से.) धातु से 'धारण करता है', 'चिपकता है' अर्थ में मल-शब्द बना है। शारीरिक मल शरीर भागों से चिपकते हैं, ऐसे ही मानस-मल मन से चिपके हैं, प्रयास-पूर्वक ही इन्हें दूर कर सकते हैं। आत्मा से वास्तव में कोई मल चिपकता नहीं, मन-शरीर आदि उपाधिवश भले ही सम्बद्ध प्रतीत हो। अविद्या भी वास्तव में आत्मा से सम्बद्ध नहीं क्योंकि आचार्यों ने समझाया है कि ब्रह्मापेक्षा से अविद्या का त्रैकालिक अभाव है, 'अविद्या है' या 'नहीं है' यह अविद्यापेक्षा से ही व्यवहार सम्भव है 'नाऽविद्याऽस्येत्यविद्यायाम् एवाऽसित्वा प्रकल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते।।' सम्बन्धवार्तिक श्लो.१७६। जब अविद्यारूप मल ही वस्तुत: आत्मा में नहीं तब अविद्याकल्पित अन्य मल उसमें नहीं इसमें क्या कहना! अत: निर्मलता भी नित्य है।

सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलता—ये आत्मा के स्वभाव, स्वरूप हैं, धर्म नहीं। सामान्य व्यवहार में भले ही इन्हें आत्मा की विशेषता कहें–समझें पर ये हैं स्वभाव ही जैसा पद्मपादाचार्य ने कहा कि ब्रह्म से अपृथक् होने पर भी पृथक् जैसे प्रतीत होते हैं।।२३।।

नित्य निर्मलता स्वभाव होने से आत्मा कूटस्थ, अपरिवर्त्तनशील ही सम्भव है पर हम स्वयं को अनित्य ज्ञानवाला, सुखवाला ही समझते हैं कि अभी ही जान रहा हूँ, प्रसन्न हूँ; कूटस्थ में ऐसा कैसे हो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

आत्मनः सच्चिदंशश्च बुद्धेर्वृत्तिरिति द्वयम्।
संयोज्य चाविवेकेन 'जानामी'ति प्रवर्त्तते ।।२४।।

आत्मा के सत् और ज्ञान अंश और बुद्धि की वृत्ति—इन दोनों को अविवेक से जोड़कर 'जानता हूँ' इस तरह प्रत्यय (अनुभव) होता है।

निरंश भी आत्मा के स्वभावरूप सच्चिदानन्द व्यवहार में उसके अंशों जैसे लगते हैं—जैसा पद्मपादाचार्य ने कहा कि उससे अपृथक् भी पृथक् जैसे लगते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं। यह भी वस्तुतः आत्मा का जो मन में आभास, प्रतिबिम्ब, उसी के कारण होती भ्रांति है। 'जानता हूँ', 'जान रहा हूँ', 'ज्ञान हो रहा है' आदि ज्ञान की अनित्यता के भान में निमित्त है कि बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण की जो सात्त्विक वृत्ति अज्ञाननाश में समर्थ है उससे ज्ञान को, आत्मा को अलगकर नहीं समझ रहे, पहचान रहे, जिसे 'अविवेक' कहा। सर्वथा भिन्न पदार्थों को अलग-अलग न समझकर एक ही समझ लेना अविवेक कहलाता है। वृत्ति मन का विकार है, मन भौतिक पदार्थ है। ज्ञान आत्मा का अखण्ड एकरस स्वरूप है। वृत्ति में योग्यता है कि ज्ञान-जैसे लगे, इसीलिये 'यह वृत्ति है' न समझकर 'ज्ञान ही है' यह प्रतीत होता है। आत्मा चीज़ असंग स्वभाव वाली है, उसका किसी से सम्बन्ध सम्भव नहीं है फिर भी यह तथ्य हमसे तिरोहित है जिसे 'अज्ञान' कहते हैं। सच्चिदानन्द असंग है इस बात का हमें अज्ञान है इसलिये वृत्ति से उसे मिला देते हैं अर्थात् स्वीकार लेते हैं कि अनित्य परिच्छिन्न व्यवहार भी ज्ञान ही है। व्यवहार चार तरह का माना गया—अभिज्ञा, अभिवदन, उपादान और अर्थ-क्रिया। अभिज्ञा से ज्ञानरूप व्यवहार अभिप्रेत है। व्यवहार व्यावहारिक बुद्धि से ही होगा अतः वृत्तिरूप ज्ञान ही अभिज्ञा है। 'वृत्तिरूप ज्ञान' अर्थात् वैसी वृत्ति जिसे 'उपचार' से ज्ञान कहते हैं। उपचार अर्थात् किसी गुण (विशेषता) के चलते अन्यार्थक शब्द का अन्यार्थ में प्रयोग जैसे शूरतादिवश बालक को 'सिंह' कहना या मित्रादि को अपना 'आत्मा' कहना। वृत्ति भौतिक अतः जड (अचित्) है लेकिन चेतन का स्वरूप जो निरविद्यता (अज्ञानरहितता) उसे सम्पन्न करने में समर्थ है अर्थात् अविद्या को नष्ट करती है इसलिये उपचार से वृत्ति को भी ज्ञान कहते-समझते हैं। औपचारिक को मुख्य से अभिन्न जान लेना ही भ्रम है। 'जानता हूँ' यह ऐसा ही भ्रम है जिसमें औपचारिक वृत्तिरूप ज्ञान को 'मैं' से (मुख्य ज्ञान से) अभिन्न समझा जाता है। आत्मा रहता कूटस्थ ही है, अनित्य ज्ञानों वाला होता नहीं, भ्रमवश ही 'जानता हूँ' यों भास रहा है। भ्रम व वस्तुस्थिति अज्ञान दशा में युगपत् रहते हैं इसमें कोई विरोध नहीं। आत्मा में कोई विकार, परिवर्त्तन, आगन्तुक धर्म नहीं आता यह निश्चित है।

यह तथ्य सद्रूप और आनन्दरूप अंशों में भी समान है। घड़े आदि में प्रतीत होता सत् ही 'घड़ा है' में है कहलाता है, अहंकार को सत्ता देता हुआ 'हूँ' कहलाता है। अनित्य पदार्थों या मनोवृत्तियों से तादात्म्यापन्न कूटस्थ ही घटादि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की अनित्य सत्ता, वृत्तियों का अनित्य ज्ञान एवं अनित्य सुख समझा जा रहा है। लोकदृष्ट सत्तादि कोई वस्तु नहीं, भ्रम से समझा जाता आत्मा ही है। अतः विवेकपूर्वक उसे कूटस्थ समझ लेना ही उचित है।।२४।।

पूर्वोक्त अनित्य ज्ञानादि मिथ्या ही हो सकते हैं न कि सत्य, यह समझाते हैं—

आत्मनो विक्रिया नाऽस्ति बुद्धेर्बोधो न जात्वपि।
जीवः सर्वम् अलं ज्ञात्वा ज्ञाता द्रष्टेति मुह्यति ।।२५।।

आत्मा का कोई परिवर्त्तन नहीं होता और बुद्धि में ज्ञान है ही नहीं, फिर भी जीव सब को (आत्मा, बुद्धि और विकार, वृत्ति को, अर्थात् इनके सम्मिलित रूप को) अत्यधिक (अर्थात् मैं) जानकर ही 'मैं जानने वाला, देखने वाला' इत्यादि तरह से भ्रम में रहता है।

आत्मा का स्वभाव ही अपरिवर्त्तनशील है। सावयव परिच्छिन्न अनात्मा ही बदलता है। बदलने वाली वस्तु अवश्य अनित्य होती है जबकि आत्मा अनित्य है नहीं क्योंकि इसके अभाव में प्रमाण नहीं। इसी प्रकार भूतकार्य अंतःकरण का एक परिवर्त्तनविशेष वृत्ति है जो कि ज्ञान नहीं हो सकती क्योंकि ज्ञान आत्मरूप है। ज्ञान यदि बुद्धिरूप हो तो बुद्धि आत्मा ही होगी, उसकी वृत्ति नहीं हो सकेगी! दोनों तरह अनित्य ज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान न आत्मा है न बुद्धि है। बुद्धि को एकाग्र किया जाता है, विक्षिप्त हो तो 'पता' चलता है, इससे स्पष्ट है कि वह साधन-विशेष ही है, आत्मा नहीं जिसे बुद्धि के बारे में पता रहता है। निर्वृत्तिक से सवृत्तिक होती बुद्धि भी पता चलती रहती है अतः वह या उसकी वृत्ति, ज्ञान होना संगत नहीं। आत्मा और बुद्धिवृत्ति सर्वथा पृथक् वस्तुएँ हैं पर जीव इन्हें एकमेककर मान बैठता है कि ज्ञान है! अहंकारवृत्ति में पड़ा आत्माभास जीव कहलाता है जो स्वयम् भी आत्मा नहीं वरन् आत्मा-उपाधि का एकमेकीकृत रूप है। आत्माभास से युक्त अन्तःकरण व उसकी वृत्ति—इन्हें तपे लोहे के पिण्ड की तरह अभिन्न समझता जीव खुद को 'जानने वाला' मानकर इस अविविक्त स्थिति को ही ज्ञान भी मान लेता है। जैसे—देह-इन्द्रिय-प्राण-मन के मिले जुले रूप को 'मैं' मानता है, विचार नहीं करता कि इनमें से कौन हूँ या इनके बदलने पर भी बना रहने वाला मैं कौन हूँ, वैसे ज्ञान, ज्ञाता के बारे में भी आपात प्रतीति पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही रुक जाता है, विचार नहीं करता कि वस्तुस्थिति क्या है। इसमें हेतु है कि चाहे 'मैं' की हो या 'जानता हूँ' की हो, इन आपात प्रतीतियों में ही मग्न हो जाता है, इनसे तटस्थ रहकर इनका विवेक करे इसमें समर्थ नहीं होता। जैसे 'जानता हूँ' वैसे ही सभी प्रत्यक्ष-परोक्ष ज्ञानों वाला तथा जन्म, मरण, क्रिया आदि वाला समझता है जो कि मोह अर्थात् भ्रम ही है।।२५।।

अविवेकरूप जीवभाव ही भयावह बन्धन हैं अतः विवेकपूर्वक तत्त्वज्ञान से ही निवर्त्य है यह उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—

रज्जुसर्पवद् आत्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं वहेत्।
नाऽहं जीवः परात्मेति ज्ञातश्चेद् निर्भयो भवेत्।।२६।।

रस्सी को साँप की तरह आत्मा को जीव समझकर जो भय ढो रहा है वही आत्मा को 'मैं जीव नहीं वरन् परमात्मा हूँ', जान ले तो निर्भय हो जाये!

सामने रस्सी पड़ी हो तो भय का निमित्त नहीं पर उसे साँप समझ लें तो डर लगता है। स्वप्न में भी इसी तरह भ्रम से भयहेतु समझ लिया जाता है। ऐसे ही आत्मा अकर्त्ता-अभोक्ता अद्वितीय स्वप्रकाश नित्य आनन्द होने से बन्धन, दुःख, भय आदि का कोई निमित्त नहीं फिर भी हम इसे कर्त्ता आदि रूप वाला जीव समझते हैं तब दुःखमय संसार में खुद को डूबता पाकर इससे भयभीत रहते हैं, इससे बचना चाहते हैं। यद्यपि अनुकूल परिस्थिति रहते लगता है हम संसार से नहीं डरते तथापि प्रतिकूलता आते ही पता चल जाता है कि हम उससे दूर भागना चाहते हैं अन्यथा छटपटाते हैं। यही भय को 'ढोना' है। जैसे बोझ ढोना इष्ट नहीं, अनिवार्य भले ही हो वैसे संसार हमें इष्ट नहीं, अनिवार्य ही है। इष्ट तो सुख ही है, संसार का भी इसी में विनियोग चाहते हैं। अतः स्पष्ट है कि भय ढो ही रहे हैं, न चाहकर भी झेल रहे हैं। यदि ढोना सचमुच अनिवार्य हो तो बचाव के उपाय सार्थक भी होंगे लेकिन क्योंकि भ्रम से ही ढो रहे हैं इसलिये बचाव के उपाय बेकार जाते हैं। सचमुच चोर सामने हो तो मार या भगा सकते हैं लेकिन ठूंठ को चोर समझ लें तो न मरता है, न भागता है! उसका तो बाध करें तभी वह न रहे और तभी हम निश्चिन्त रहें। इसी तरह जीवभाव सत्य हो तो कर्म-उपासना आदि उपायों से भय मिटे या सुरक्षाभाव रहे लेकिन क्योंकि वह असत्य है, भ्रममात्र है इसलिये सारे उपाय अप्रभावी रह जाते हैं, भय कायम रह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाता है। जीवभाव का बाध करें, 'मैं नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त परमात्मा ही हूँ, न कि कर्त्ता-भोक्ता परिच्छिन्न नश्वर', तो सभी बंधन, भय निरस्त ही हैं। आचार्य से शास्त्र का उपदेश प्राप्त करने वाला विवेकी स्वात्मा को अखण्ड एकरूप जाने यही मोक्ष के लिये अनिवार्य तथा पर्याप्त है।।२६।।

आत्मा जान लिया जाये तो मोक्ष है यह कहने से सम्भावना होगी कि घड़े आदि की तरह आत्मा ज्ञानविषय होगा! इसका निषेध करते हैं क्योंकि तब वह अनात्मा ही रह जायेगा—

आत्माऽवभासयत्येको बुद्ध्यादीनीन्द्रियाणि हि।
दीपो घटादिवत् स्वात्मा जडैस्तैर्नावभास्यते ।।२७।।

आत्मा एक ही रहते हुए बुद्धि, इन्द्रियों आदि को प्रकाशित ही करता है, उन जडों द्वारा प्रकाशित किया नहीं जाता जैसे दिया घड़े आदि को प्रकाशित ही करता है।

दीपक स्थूल प्रकाश है, वह अप्रकाशरूप घट आदि को प्रकाशित करता है, उनसे प्रकाशित नहीं होता। इसी तरह उपाधियों को आत्मा प्रकाशित ही करता है, उनसे प्रकाशित नहीं होता। अत: प्रकाशित करता है—इसी तरह आत्मा जाना जायेगा, प्रकाशित होता है—इस तरह नहीं। आत्मा 'एक' ही है, अद्वितीय है, फिर भी बुद्धि आदि को प्रकाशित करता है तो अवश्य बुद्धि आदि आरोपित ही हो सकते हैं। जैसे स्वप्न में अकेला आत्मा अनेकों को प्रकाशित करता है वैसे जाग्रत् में भी। असत्य होने से भी इंद्रियादि आत्मा को प्रकाशित करें यह असम्भव है।

घड़े चाहे जितने हों, सभी को प्रकाशित करने में एक ही दिया पर्याप्त है इसी तरह बुद्धि आदि सभी उपाधियाँ प्रकाशित करता आत्मा एक ही है, अनेक आत्मा अप्रामाणिक एवं युक्तिविरुद्ध हैं। प्रकाशित न हो सकने से आत्मा का 'मैं जीव नहीं, परमात्मा हूँ' यह भान वैसा नहीं जैसे 'यह घड़ा है' यह भान अर्थात् आत्मज्ञान त्रिपुटीघटित नहीं यह तात्पर्य है।।२७।।

प्रकाशन भले ही आत्मा करे किन्तु अपने (आत्मा के) प्रकाशन के लिये बुद्धि आदि की उसे आवश्यकता रहती होगी—यह शंका होती है। प्रकाशकरूप से समझने के लिये कुछ प्रकाशित हो यह ज़रूरी होता है अत: बुद्धि आदि पर निर्भरता फिर भी रह जायेगी। इसका समाधान करते हैं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वबोधे नान्यबोधेच्छा बोधरूपतयाऽऽत्मनः ।
न दीपस्यान्यदीपेच्छा यथा स्वात्मप्रकाशने ॥२८॥

जैसे दीपक अपने प्रकाशन के लिये अन्य दीप नहीं चाहता वैसे ज्ञानरूप होने से आत्मा को अपने ज्ञान के लिये किसी अन्य के ज्ञान की इच्छा नहीं होती।

यहाँ 'इच्छा' अर्थात् आवश्यकता। यद्यपि घटादि प्रकाशित करने से भी दीपक का पता लगता है तथापि अकेला दीपक ही जल रहा हो, घड़ा आदि कुछ आस-पास न हो, तो भी दीपक दीखता ही है, ऐसा नहीं कि घड़ा आदि नहीं तो दिये का पता ही न लगे! इसी तरह बुद्धि आदि को प्रकाशित करने से भले ही आत्मा का पता लगे पर यदि कुछ प्रकाश्य नहीं है तो भी वह सदा भासमान रहता ही है क्योंकि ज्ञानस्वरूप है। व्यवहारान्तर में द्वैतापेक्षा भले ही हो, भान में नहीं होती। अविद्या-नाश के लिये वृत्त्यपेक्षा है, ज्ञान के लिये नहीं यह तात्पर्य है। प्रकाश्याभाव से प्रकाशनाभाव ही होगा, प्रकाशाभाव नहीं, वैसे ज्ञेय-ज्ञापन न होने पर भी ज्ञान रहेगा ही। ज्ञान के लिये कही बात सत्ता और आनन्द के लिये भी समझनी चाहिये। घटादि या बुद्धि आदि को सत्ता दे या वे हों नहीं तो मत दे, फिर भी आत्मा सद्रूप ही है। इसी तरह सुखवृत्ति को आनन्दरूपता दे या पुत्रादि को प्रियता दे या उनके न रहते न दे, स्वयं आत्मा आनन्दरूप ही है। निरपेक्ष सच्चिदानन्दरूपता आत्मा का स्वभाव है॥२८॥

ऐसे आत्मा को यथार्थ समझने का उपाय स्पष्ट करते हैं—

निषिध्य सकलोपाधीन् नेति नेतीति वाक्यतः ।
विद्याद् ऐक्यं महावाक्यैर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥२९॥

'नेति नेति' इस वाक्य में कहे ढंग से सकल उपाधियों का निषेध कर महावाक्यों द्वारा जीवात्मा-परमात्मा के अभेद को जानना चाहिये।

अभी हम स्वयं को जीवात्मा और अपने से अन्य, शक्तिसम्पन्न, कारणादिरूप परमात्मा (ईश्वर) यों भेद समझते हैं। स्वयं को प्राणादि 'कलाओं' से युक्त अनुभव करते हैं, ईश्वर को भी अनेक विशेषताओं वाला जानते हैं। कलाएँ, विशेषताएँ, शक्ति—ये ही 'उपाधि' कहलाती हैं क्योंकि ये वास्तव में आत्मा से असम्बद्ध रहते हुए भी उससे युक्त लगती हैं, उसमें अन्तर लाये बिना भी उसे विभिन्न तरह से प्रभावित प्रतीत कराती हैं। जिस बोधरूप आत्मा का पूर्व

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्लोक में कथन किया उसे साक्षात् जानने के लिए उसे उपाधियों से स्वतन्त्र जैसा वह है वैसा पहचानना ज़रूरी। सब उपाधियों से रहित समझने पर वह अभिन्न, अद्वितीय भी निश्चित होता है जिसे महावाक्य सत्यापित करते हैं। महावाक्य से एकवाक्यतापन्न अवान्तर वाक्य जीव-ईश्वर का व्यावहारिक-पारमार्थिक रूप बताते हैं। व्यावहारिक रूप वाच्य और वास्तविक रूप लक्ष्य कहलाता है। सभी निषेधवाक्यों का संग्रह नेति-नेति में है, इति अर्थात् सारी उपाधियाँ आत्मा में नहीं हैं। 'नेति नेतीत्यात्मा' यह उपनिषद्वचन है अतः नेति से कहा आत्मा को ही गया है। जो कुछ भी वास्तव में परमात्मा नहीं, आत्मा नहीं, उस सब का निषेधकर बचा तत्त्व ही आत्मा है। इससे 'मैं' के कर्तृत्व-भोक्तृत्व-परिच्छिन्नत्व आदि एवं ईश्वर के सर्वज्ञता-सर्वशक्ति-कारणता आदि समस्त विशेष हट जाते हैं, आत्मा ही रह जाता है। जब आत्मा के बारे में यह समझ स्पष्ट होगी, तभी महावाक्य द्वारा कही जीव-ईश्वर की एकता समझ आयेगी। नेति-आदि में 'वाक्यतः' यों एकवचन सूचित है क्योंकि वह निषेधान्तर-संग्राहक वचन है, 'महावाक्यैः' मैं बहुवचन है क्योंकि समन्वयाधिकरणानुसार समस्त वेदान्तों की एकवाक्यता का निश्चय अपेक्षित है।।२९।।

अद्वैतसाक्षात्कार के लिये शुद्ध आत्मा का ज्ञान अनिवार्य कहते हैं—

आविद्यकं शरीरादि दृश्यं बुद्बुदवत् क्षरम्।
एतद्विलक्षणं विद्याद् अहं ब्रह्मेति निर्मलम्।।३०।।

बुलबुलों–जैसे दृश्य और नश्वर शरीरादि अविद्याविलासमात्र हैं, इनसे विपरीत लक्षण वाले निर्मल तत्त्व को 'मैं ब्रह्म हूँ' समझा जाये।

पूर्वोक्त शोधन न किया तो 'मैं' से अनुभव में आता तत्त्व मिथ्या ही है, उसे ब्रह्म समझ सकते भी नहीं, कहीं समझ लिया तो सर्वथा भ्रांति ही होगी! इसलिये शोधन आवश्यक, उसके बिना वेदान्तज्ञान असंभव है। जिसे अतिदृढ भ्रम है कि 'यह साँप है' वह उस ओर देखता भी नहीं, पास जाता ही नहीं कि रोशनी से रस्सी देख सके। जिसे अनेक उपायों से पता चला कि साँप होना मुमकिन नहीं वही पास जाकर परीक्षा करेगा। ऐसे ही 'मैं' की वर्त्तमान अनुभूति का आग्रह रहते 'मैं अकर्त्ता-अभोक्ता-व्यापक हूँ' इस तरफ हम नज़र ले ही नहीं जाते। कुछ लोग यहाँ तक कहते हैं कि रमणीय वृन्दावन के सियार भले ही बन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जायें, अपनी निरुपाधिकता नहीं समझेंगे! अत: साधक पहले अपने देहादि को अनात्मा निर्धारित करे यह ज़रूरी। दृश्य अर्थात् भेदेन ज्ञेय और क्षर अर्थात् नाश होते रहने वाला शरीर वैसे ही अविद्याकार्य है जैसे पानी के बुलबुले। बुलबुले पानी से अलग नहीं पर अविद्यावश अलग ही लगते हैं। इसी तरह शरीर-मन-इंद्रिय-प्राण भी अविद्यारूप हैं, लगते उससे अन्य-जैसे हैं। अतएव ये आत्मा, मैं, नहीं क्योंकि मैं दृश्य (भिन्नरूप से प्रतीत होने वाला) और नश्वर नहीं अर्थात् शरीरादि के लक्षण से मेरा लक्षण उल्टा है, मैं अभिन्नरूप से भासमान तथा नित्य निर्विकार हूँ। अनात्मा की विशेषताएँ आत्मा पर भासें तो मल कहलाती हैं, उन्हें वहाँ न भासने दें तो आत्मा निर्मल भासेगा। देहादि में विलक्षण तत्त्व को ही मैं, ब्रह्म जानना है, यही तत्त्वज्ञान है।।३०।।

अवान्तर वाक्यों में कहे तरीके से पदार्थ-शोधन कर चुका साधक महावाक्य का अर्थ जो अद्वय आनन्दरूप आत्मा उसे जानने के बाद अपने अनुभव के सहारे स्वयम् आत्मविषयक मनन करे यह पाँच श्लोकों में कहेंगे। शास्त्र व युक्ति से मनन तो पूर्व में किया जा चुका, अब अनुभव से मनन करना है। साधक-बाधक प्रमाण का उपस्थापन मनन है। अनुभव हो चुकने पर वही प्रमाण बन गया अत: उसी से अद्वैत का साधन और द्वैतका बाधन करना यहाँ मनन है। यह ज्ञान के दृढीकरण के लिये आवश्यक है। निर्णय इससे भी वे ही होंगे जो पूर्व में शास्त्र व अन्वय-व्यतिरेक आदि तर्क से हुए थे अत: कहने में पुनरुक्ति-सी होगी लेकिन पहले जो बात स्वानुभव से नहीं समझी थी उसे अब स्वानुभव से समझना है। इस प्रसंग को व्यक्त करते हैं—

देहान्यत्वाद् न मे जन्मजराकार्श्यलयादय: ।
शब्दादिविषयै: सङ्गो निरिन्द्रियतया न च ॥३१॥

क्योंकि शरीर से अन्य हूँ इसलिये जन्म, बुढ़ापा, कमजोरी आदि मुझमें नहीं तथा इंद्रियों वाला नहीं अत: शब्दादि विषयों का मुझे अनुभव ही नहीं कि उनसे कोई आसक्ति होवे।

जन्मादि विकार देह के ही हैं। कमज़ोरी आदि के लिये सूक्ष्म शरीर, प्राण ज़रूरी। त्रिविध शरीर ही मैं नहीं तो जन्मादि मेरे कैसे हों! इंद्रियाँ सूक्ष्म शरीर के ही भाग हैं, मेरे हैं नहीं तो उनसे सम्बद्ध होने वाले विषयों से मेरा न सम्बंध न उनका कोई अनुभव क्योंकि बाह्य विषयों का अनुभव सम्बन्ध पर ही निर्भर होता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। घड़े आदि से आँख-मन का भले ही सम्बन्ध हो पर मैं आँख-मन हूँ नहीं अत: मेरा सम्बन्ध नहीं इसलिये आसक्ति की सम्भावना ही नहीं।।३१।।

पूर्वोक्त तथ्य शास्त्र से प्रमाणित करते हुए प्राण-मन व उनके धर्मों से परे शुद्ध तत्त्व को आत्मा जानने का निर्देश देते हैं—

अमनस्त्वाद् न मे दुःखरागद्वेषभयादयः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इत्यादिश्रुतिशासनात् ।।३२।।

मनोरूप न होने से दु:ख-राग-द्वेष-भय आदि मुझमें नहीं। ऐसे ही मैं प्राण नहीं (अत: उसके धर्म जो भूख आदि वे मुझमें नहीं)। यह वास्तविकता इसलिये निश्चित है कि वेद ने 'अप्राण, अमना' इत्यादि आत्मा के लिये कहा है।

दु:खादि मनोविकार होने से मन से भिन्न मुझ आत्मा के धर्म नहीं। तार्किकों को या अन्यों को भी जो आत्मा की अनित्य विशेषताएँ समझ आती हैं वे आत्मा की न होकर मन आदि उपाधियों की ही हैं। दु:खादि में यद्यपि अनित्य ज्ञान व अनित्य सुख संग्राह्य ही है तथापि उनका नामोल्लेख न करने से ध्वनित है कि साक्षिरूप आत्मा स्वयं ज्ञानरूप व सुखरूप है अत: मनोवृत्ति को ज्ञान या सुख तो उपचार (गौण दृष्टि) से ही कहते हैं। आत्मा प्राण-मन से परे है यह इससे तो पता है ही कि ये दृश्य हैं, अनुभव का विषय बनते हैं, साधन का कार्य करते हैं, श्रुति ने स्वयं यह तथ्य प्रकट किया है जिससे इसकी प्रामाणिकता निर्धारित हो जाती है। मुण्डक उपनिषत् (२.१.२-३) कहती है कि बाहर-भीतर सब को घेरे जो दिव्य, अमूर्त्त, अज पुरुष है वह क्रियाशक्तिभेदरूप प्राणों वाला नहीं और न ही ज्ञानशक्तिभेदरूप मन वाला है। दोनों उपाधियों से रहित अत: शुभ्र अर्थात् शुद्ध है। कार्य-प्रपंच से परे जो कारणरूप अक्षर (प्रकृति) उससे भी वह पुरुष परे है। प्राण, मन, सब इंद्रियाँ और उनके विषय सब इस पुरुषरूप अधिष्ठान से ही उपजते हैं। इस तरह, आत्मरूप पुरुष उपाधिरहित है अत: उपाधिधर्मों से रहित है।।३२।।

गुरुकृपा से प्राप्त स्वानुभव व्यक्त करते हुए विद्वान् के मनन का प्रकार ही सूचित करते हैं—

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
निर्विकारो निराकारो नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः ।।३३।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मैं गुण-क्रिया-विकल्प-अंजन-विकार-आकार-मलों से रहित सनातन तथा सदा मुक्त हूँ।

बुद्धि आदि न होने से दु:खादि गुण मुझमें नहीं। इन्द्रियों से रहित तथा स्थूल शरीर से रहित होने से क्रिया मुझमें नहीं। अविद्या के ही सब विकार हैं, मैं अविद्या नहीं अत: मेरे विकार भी नहीं। विकल्प से वैचित्र्य, वैविध्य, संभावना आदि कहे जाते हैं जो निर्विशेष मुझ आत्मा में नहीं। वस्तु की पहचान भी विकल्प कही जाये जैसे 'सविकल्पक ज्ञान' आदि में कहते हैं, तो अर्थ है कि मुझ में मुझसे भिन्न कुछ नहीं, एकरस हूँ अत: निर्विकल्प हूँ। अंजन से अज्ञान सूचित है जो मुझमें निरस्त है। स्थूल आयाम या रूप को आकार कहते हैं जिससे मैं आत्मतत्त्व रहित हूँ। मल अर्थात् संस्कार जो ज्ञान, क्रिया आदि चित्त में छोड़ जाते हैं; चित्तरूप न होने से मैं निर्मल हूँ। अविद्याप्रतीति तक प्रतीत बन्धन अब बाधित हो चुका अत: अभी ही नहीं वरन् सदा मुक्त हूँ यही अनुभूति है।।३३।।

विद्वान् का आत्मसन्दर्भी मनन ही बता रहे हैं—

अहम् आकाशवत् सर्वबहिरन्तर्गतोऽच्युतः ।
सदा सर्वसमः शुद्धो निस्सङ्गो निर्मलोऽचलः ।।३४।।

आकाश-जैसा मैं सभी के बाहर-भीतर मौजूद हूँ, स्वरूप से डिगता नहीं, हमेशा सब में एक-सा हूँ। स्वरूपत: मुझमें कोई अशुद्धि नहीं तथा सम्बन्धयोग्य न होने से निर्लेप हूँ। चलनरहित अर्थात् पूर्ण हूँ।

आत्मा को 'सबाह्याभ्यन्तर' कहा जाता है अर्थात् बाहर-भीतर और इनके विभाजक में एक-सा रहने वाला है। घड़े से बाहर-भीतर तो आकाश है ही, घड़ा कहलाता जो मिट्टी का विकार वह भी है आकाश में ही, अत: आकाश दृष्टान्त से यहाँ भी समझाया। यद्यपि यदि सर्वत्र है तो बाहर या भीतर ऐसा व्यवहार होना नहीं चाहिये तथापि होता है अत: मायिक है यह अभिप्राय है। आत्मा सच्चिदानन्दरूप है और अध्यास से भी इस तथ्य में अन्तर नहीं आता, स्वयं को 'हूँ, भासमान हूँ, प्रिय हूँ' यह लगातार समझते ही हैं अत: अच्युत हूँ। जिनमें हूँ वे चाहे जितने विषम हों पर उनमें मैं आत्मा सम ही रहता हूँ। 'सब' मुझमें बाधित हैं, अत: त्रिविध भेदों से रहित सम अर्थात् एकरस हूँ। मुर्दा भी शरीर आत्मसम्बन्ध से पवित्र बना रहता है, आत्मसम्बन्ध हटते ही अपवित्र रह जाता है, इससे आत्मा की शुद्धि (पवित्रता) प्रकट हो जाती है। स्वयं शुद्ध रहते हुए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वसम्बद्धों को भी शुद्ध करता है। आत्मा का अन्य तो कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं,अध्यास ही सम्बन्ध सम्भव है और वह अधिष्ठान को प्रभावित नहीं करता। पूर्ण, व्यापक अवश्य निष्क्रिय रहता है।।३४।।

इस तरह का मनन निष्ठापर्यन्त करते रहना आवश्यक है यह समझाते हैं—

एवं निरन्तरकृता ब्रह्मैवाऽस्मीति वासना।
हरत्यविद्याविक्षेपान् रोगान् इव रसायनम्।।३५।।

पूर्वोक्त ढंग से लगातार की गयी 'ब्रह्म ही हूँ' यह वासना अविद्या के विक्षेपों को वैसे ही समाप्त करती है जैसे रसायन (दवा) बीमारियों को।

विशेष तरह तैयार की खास दवा 'रसायन' कहलाती है जिसे लम्बे समय तक विधिवत् सेवन करें तो शरीर से विविध रोग सर्वथा दूर हो जाते हैं। इसी तरह 'ब्रह्म हूँ' के संस्कार को लगातार स्थापित करें तभी विद्या में वह तेज आता है कि अविद्या और उससे होने वाले अभिमान आदि विक्षेप सर्वथा समाप्त होते हैं। तत्त्वज्ञान अविद्या का निवर्त्तक है पर तभी जब यों तेजस्वी बनाया जा चुका। प्राय: ज्ञान-अज्ञान के विरोध के स्पष्टीकरण के प्रसंगों में इस तेजआपादन या निष्ठासम्पादन, दार्ढ्य, अप्रतिबद्धता की चर्चा नहीं आती लेकिन शास्त्र-आचार्य मौके-मौके पर इसकी अनिवार्यता व्यक्त करते हैं अत: साधक को इसके लिये यत्नशील होना ही संगत है।।३५।।

उक्त मनन का निष्कर्ष कहते हैं—

नित्यशुद्धविमुक्तैकम् अखण्डानन्दमद्वयम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् परब्रह्माहमेव तत्।।३६।।

नित्य, शुद्ध, विमुक्त, एक, अखण्ड, आनन्द, अद्वय, सत्य, ज्ञान, अनन्त जो परब्रह्म वह मैं ही हूँ।

नित्य अर्थात् काल से अव्याप्त, असीमित। शुद्ध अर्थात् पापरहित। विमुक्त अर्थात् बन्धनरहित, निर्भय। एक, अखण्ड, अद्वय से सजातीय-स्वगत-विजातीय भेदों का निषेध किया। अनन्त अर्थात् देशकृत-सीमारहित। अहम्-तत् के मध्य रखा एव दोनों से सम्बद्ध है अत: अत्यन्त अभेद कहा। पारमार्थिक होने से ब्रह्म के लिये 'पर' विशेषण रखा।।३६।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्म का अनुसन्धान जिन साधनों से हो पाता है वे कहते हैं—

विविक्तदेश आसीनो विरागो विजितेन्द्रियः ।
भावयेद् एकमात्मानं तमनन्तम् अनन्यधीः ॥३७॥

इन्द्रियों पर जीत हासिल कर चुका वैराग्यवान् स्वभाव व संस्कार से शुद्ध एकान्त स्थान पर बैठकर बुद्धि अन्यत्र न जाने देते हुए उस एक अनन्त आत्मा की भावना करे।

दम अर्थात् इन्द्रियनिग्रह साधक के लिये अनिवार्य ही रहता है चाहे साधना-क्रम में जितनी भी प्रगति हो जाये। मन को विषयों की ओर राग-द्वेष ले जाते हैं, वैराग्य के बिना शम अर्थात् मनोनिग्रह असम्भव है। स्थान स्वतः पवित्र हो, झाड़ू आदि से साफ किया गया हो तथा भीड़, हल्ले आदि से दूर हो तब स्थिरता से भावना की जा सकती है। 'आसीन' इसलिये कि खड़े या लेटे भावना स्थायी नहीं रख सकते। इससे गीता आदि में कहे आसन-नियमों को भी समझ लेना चाहिये। श्रवण-मनन से निर्णय हो चुकने से बुद्धि को उसी पर टिका सकते हैं, तद्विषयक विकल्पान्तरचिन्तनादि से रोक सकते हैं। ऐसी स्थिति में 'जगद्धेतु अद्वितीय आत्मा हूँ' यह भावना स्थिर रखे। 'तम्' से तत्पदार्थ कहा जिससे 'आत्मानम्' त्वम्पदार्थ को 'एकम्' अभिन्न समझना जो इसलिये ठीक है कि आत्मा अनन्त है। इस भावना में बुद्धि को दीर्घकाल तक संलग्न रखने से श्रवणादि जन्य निश्चय दृढ होता है॥३७॥

उक्त भावना में अनुभव के विरोध के परिहार का तरीका समझाते हैं—

आत्मन्येवाऽखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः ।
भावयेद् एकमात्मानं निर्मलाकाशवत् सदा ॥३८॥

शुद्धमना साधक शास्त्रसंस्कारयुक्त बुद्धि द्वारा सारे दृश्य को आत्मा में ही विलीन कर निर्मल आकाश की तरह एक आत्मा की सदा भावना करे।

मन शुद्ध होने से दृश्य के प्रति राग नहीं होगा तभी उसका विलय कर सकेगा। विलय का ढंग एकायन-प्रक्रिया में बृहदारण्यक में, परिसंख्यान प्रकरण (उपदेशसाहस्री) में, पंचीकरण प्रकरण में एवं इसी तरह शास्त्रों में समझाया है जिनके संस्कार होंगे तभी बुद्धि उस ढंग से दृश्य को आत्मवस्तु में विलीन कर सकेगी। विलय कर देने पर दृश्य का अनुभव आत्माद्वैत का विरोध नहीं करेगा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तो उक्त भावना बन सकेगी। आकाश निर्मल हो तो आकाशातिरिक्त कुछ नहीं दीखता, ऐसे आत्मा को अद्वितीय समझने के लिये कहा है॥३८॥

इस भावना का प्रभाव दिखाते हैं—

रूपवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित्।
परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ॥३९॥

वास्तविक सत्य का जानकार रूप, वर्ण आदि सब छोड़कर हर तरह से पूरे, चेतनरूप, आनन्दस्वरूप से रहता है।

रूप और वर्ण अर्थात् नाम एवं आदि से क्रिया, इतने में सारा प्रपंच सिमट जाता है। परमार्थ अधिष्ठान को समझ चुका व्यक्ति इस प्रपंच का त्याग करता है क्योंकि इसे कहने-भर का जानता है, वाचारम्भण जानता है। अतएव आत्मरूप से ही रहता है, जो अनात्म-उपाधिभाग स्वयं से जोड़े हुए है उसे मिथ्या जानते हुए छोड़ता है, उसे न 'मैं' समझता है, न 'है' ही समझता है। आत्मा हर तरह पूरा है, उसमें कोई कमी नहीं, स्वभाव से अनन्त है। उससे ही अन्य भी सब पूरे होते हैं अन्यथा सत्-के बिना नाम-रूप-कर्म अधूरे ही हैं। आत्मा निरंतर भासमान पूर्ण आनन्द है, इसलिये इसमें स्थित साधक वहाँ से डिगे यह योग्य ही नहीं॥३९॥

बाह्य नाम-रूपादि का भले ही त्याग हो सके, प्रमातापन आदि त्रिपुटी का भान रहते एकता की भावना कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परात्मनि न विद्यते।
चिदानन्दैकरूपत्वाद् दीप्यते स्वयमेव तत् ॥४०॥

ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का भेद परमार्थ आत्मा में नहीं है, केवल चेतन व आनन्दरूप होने से वह खुद-ब-खुद भासता है।

उपाधियों की उपस्थिति में ही ज्ञाता आदि भेद प्रतीत होता है अतः औपाधिक होने से मिथ्या है एवं जिस अधिष्ठान में प्रतीत होता है वह आत्मा इन भेदों से सर्वथा अस्पृष्ट है। यद्यपि वृत्तिरूप ज्ञान आत्मस्वरूप नहीं तथापि आत्मा चेतन अर्थात् स्वप्रकाश है अतः वह भासता ही है, भासने के लिये वृत्ति पर या ज्ञाता-ज्ञान पर निर्भर नहीं। इसलिये त्रिपुटी का भान व्यावहारिक, मिथ्या है जिससे एकता की भावना संगत है॥४०॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बताये ढंग से साधना हो तो निश्चय ही प्रभाव होता है यह कहते हैं—

एवम् आत्माऽरणौ ध्यानमथने सततं कृते।
उदितावगतिज्वाला सर्वाऽज्ञानेन्धनं दहेत् ॥४१॥

इस प्रकार अन्तःकरणरूप अरणि में लगातार ध्यान से मंथन किया जाने पर उठने वाली ज्ञानरूप ज्वाला सारे अज्ञानरूप ईंधन को जला डालती है।

अन्तःकरण अधर-अरणि है जिस पर मनोरूप उत्तर-अरिण से मन्थन होता है जो ध्यान कहा जा रहा है। इसमें विचार और तत्त्वनिश्चय की आवृत्ति दोनों संगृहीत हैं। इससे ज्ञान उत्पन्न होता है जो अज्ञान को जलाने में आग-जैसा है। इस ज्ञानाग्नि के लिये अज्ञान ही ईंधन है जिसे ज्ञान जलाकर समाप्त करता है। चिनगारी-भर आग जैसे मोटा पेड़ नहीं जला सकती ऐसे उत्पन्नमात्र ज्ञान अज्ञान नहीं मिटाता वरन् ज्वाला-जैसा पुष्ट, दृढ, अप्रतिबद्ध ज्ञान ही अज्ञान को भस्मसात् करता है। 'सर्व' अर्थात् अज्ञान के प्रकट रूपों, सहायकों, कार्यों समेत उसे नष्ट करता है। इस समय तप को जिस मुमुक्षु ने सम्पन्न किया वह मोक्ष साम्राज्य का अधिपति हो जाता है॥४१॥

[*श्लोक ४२ से महाराजश्री जी के व्याख्यानानुसार उपस्थापन किया जा रहा है।*]

जीव-ईश्वर के निरुपाधि स्वरूप का अभेद स्पष्ट समझ लेने पर, उस समझ के प्रति 'यह प्रमा है' ऐसा निश्चय होने पर अज्ञान का गहरा प्रभाव छँट जाता है तब परमात्मा प्रकट हो जाता है—

अरुणेनेव बोधेन पूर्वं सन्तमसे हृते।
तत आविर्भवेद् आत्मा स्वयमेवांशुमान् इव ॥४२॥

जैसे उषा के प्रकाश से पहले अँधेरे का घनापन हट जाता है तब सूर्यदेव दीखते हैं वैसे आत्मबोध द्वारा पहले अविद्या मिट जाती है फिर आत्मा स्वयं प्रकट होता है।

दृष्टान्त में जैसे सूर्योदय से पहले ही अँधेरा प्रायः समाप्त होता है वैसे दार्ष्टान्त में बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो जाता है। आत्मभान तो स्वयमेव होता है, उसके लिये वृत्ति नहीं चाहिये रहती, उसका तो उपयोग अज्ञाननाश के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिये ही है। बोध आत्मा का स्वभाव है। वृत्तियों में वही प्रकट होता है। अतः आत्मा के लिये उपनिषत् ने कहा कि हर ज्ञान में समझा आत्मा ही जा रहा है 'प्रतिबोधविदितं मतम्'। ज्ञानरूप अन्तर्यामी सब देखता है, उससे कुछ छिपता नहीं। लोग अपने पाप, गलत प्रवृत्तियाँ साथियों से छिपाते फिरते हैं; घर में खान-पान शुद्ध रखते हैं पर शहर से बाहर या होटल आदि में अशुद्ध भी ग्रहण कर लेते हैं। यह छिपाना बेकार है! साथी तो वैसे भी नरक भेज नहीं सकते कि उनसे छिपाने का लाभ हो और जो भेजेगा उस परमेश्वर से छिपा नहीं सकते। जीव का सदा सम्बन्ध अन्य जीवों से नहीं वरन् ईश्वर से ही है अतः उसे वेद ने जीव का मित्र कहा 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'। इतने जटिल संश्लिष्ट संसार का संचालन करता कर्मफलदाता सर्वज्ञ है, सभी मनोवृत्तियों का प्रकाशक है। ऐसे ईश्वर के अस्तित्व का निश्चय हो, पर वह कौन है इसका भान न हो तो उसके बारे में ज्ञान परोक्ष कहा जाता है, तब तक परमेश्वर को भी परोक्ष समझा जाता है। किन्तु यह भी निश्चय हितकारी है क्योंकि तभी उसे खोजने की प्रवृत्ति होगी। जब शास्त्रानुसार अखण्ड वृत्ति के माध्यम से उसी को देखें तब अज्ञान और अहंकार गायब हो जाता है। वृत्ति रहते जो ज्ञान वह अरुणोदय के प्रकाश-जैसा है क्योंकि अभी अहं-सम्बन्ध है, तभी 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रतीति है। ज्ञान भले ही परमात्मा के बारे में है पर 'मैं' अभी समाप्त नहीं हुआ, वाच्य से तो छूट गया पर अभी तक लक्ष्य है।

एक बार भगवान् शंकर बैठे थे, भगवती पार्वती पीछे से आयीं, भगवान् की आँखें बंद कर दीं, पूछने लगीं 'मैं कौन हूँ?' सूर्य, चन्द्र, अग्नि—भगवान् के ये तीन नेत्र ही सारे प्रकाश के स्रोत हैं, तीनों बंद हुए तो सारा जगत् अन्धकार में डूब गया। देवी ने जल्दी हाथ हटा तो लिये पर उतनी-सी देर में हमारे न जाने कितने युग बीत गये! सपने में देखा होगा : ब्याह किया, बच्चे हुए, उनका ब्याह किया, अचानक साँपने डँसा—तभी आँख खुली तो पाया कि पाँच मिनट ही सोये! इसी तरह शिव-पार्वती के लिये क्षणभर बीता, हमारे युग-युगान्तर बीत गये। भगवान् ने देवी जी से कहा 'विचार न करने से तुमने भुवन का क्षय किया, इस दोष को तपस्या से नष्ट करो तब तुमसे बात करूँगा। हो तुम प्राणप्रिय पर गलती के लिये दण्ड दूँगा।' अपनों को भी गलती पर दण्ड देना उचित है, गलती चाहे छोटी हो। दण्ड न देने से भ्रष्ट आचरण बढ़ता है। 'वैदेही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को वनवास नहीं देना चाहिये था, क्योंकि वह निर्दोष थी' यह हिन्दी-लेखकों ने नारा लगाया तो आज राज्यसभा प्रस्ताव पारित करती है कि प्रधानमन्त्री के पुत्र ने ग़लती की लेकिन प्रधानमंत्री का मानना है 'मेरा लड़का ग़लती नहीं कर सकता, दण्डनीय नहीं।' संस्कृत-लेखक लांछन की सम्भावना को भी दंडनीय मानते रहे। उनके अनुसार तो, छोड़े जाने पर सीताजी ने संकल्प किया कि अगले जन्म में रामजी से विवाह हो इस उद्देश्य से सूर्य की तरफ दृष्टि करके तपस्या करेंगी! स्वयं सीता का दृष्टिकोण राम में दोषदर्शन का नहीं पर आधुनिकों को लगता है कि सीता के साथ अन्याय किया गया। रामजी की गलती मानना भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देना है।

पार्वती जी ने तप करने का निश्चय किया। कम्पावती नदी के तट पर एक आम का वृक्ष था जहाँ सालभर में एक फल लगता था। उस एकाम्र-वृक्ष के नीचे उन्होंने तपस्या की। भोग-प्रतीक कुंकुम छोड़ त्याग-प्रतीक भस्म लगाना प्रारम्भ किया। 'नमः शिवाय' का जप करती थी। एक बार कम्पा में बाढ आयी, तपःस्थल तक पानी आ गया। पार्वती जी की दासियों ने कहा 'पूजा छोड़ो, जान बचाओ।' देवी जी बालू के शिवलिंग को दोनों हाथों में लेकर छाती से चिपकाये रहीं जिसकी छाप अभी तक उस शिवलिंग पर दीखती है। भगवान् प्रसन्न होकर बोले 'तुम्हारे द्वारा अर्चित यह लिंग यहीं रहे, तुम अरुणाचल में जो मेरा लिंग उसकी पूजा करो।' वहीं शिव ने ब्रह्मा जी को दर्शन दिया था। वह लिंग अपने आराधकों के सब पाप (रुणद्धि =) समाप्त करता है, उसमें (रुण =) पाप का लेप नहीं होता इसलिये उसे अरुण कहा है। देवी ने वहाँ जाकर पूजा की। इस कथा द्वारा स्पष्ट किया कि ज्ञान में संलग्न भक्त ही सर्वप्रिय है क्योंकि शिव देवी पर तभी पूर्ण प्रसन्न हुए जब वे 'अरुण'-अचल पर पूजा करने लगीं। वहाँ भगवान् का तेजोरूप व्यक्त है, ज्ञानरूप व्यक्त है। प्रत्यक्ष-अनुमान-शब्द ये तीन 'नेत्र' ज्ञानोपाय हैं। क्षणमात्र को ज्ञान छिपाया तो जीवभाव हावी हो गया! जैसे बालू टिकाऊ नहीं वैसे मन टिकता नहीं किन्तु जैसे बाढ़ में भी देवी ने उसे आत्मसात् किये रखा, ऐसे सर्वदा परमेश्वर से चिपके रहे तो 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति बनेगी जो अरुण बोध है।

अरुणकाल से काफी पहले घोर अज्ञान की अवस्था है जहाँ यह भी पता नहीं कि 'मैं अज्ञानी हूँ'। शास्त्ररीति से विचारें करें तो सृष्टि की अन्यथा अनुपपत्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से ही परमात्मा सिद्ध हो जाता है। भ्रम से दीखा भी साँप यह तो सही ही दिखा देता है कि सामने कुछ है। कुछ अर्थात् सामान्य के बारे में भ्रान्ति नहीं, उसके विशेष अर्थात् 'वह क्या है' के बारे में भ्रान्ति है। खोटा भी सिक्का इतना समझा देता है कि सिक्का कैसा होता है। जो जगत् दीख रहा है वह वास्तव में जगत् नहीं ब्रह्म है। उस ब्रह्म के भान के लिये जगत् उपयोगी बन जाता है, वह है तभी साधक ब्रह्मज्ञान पा सकता है। गहरी सुषुप्ति या निर्विकल्प समाधि में यों ब्रह्म का ज्ञान सम्भव नहीं। जगत् देखने से ब्रह्म समझ आता है। भ्रमों में 'सामने क्या है' पर मतभेद, अनिश्चय होता है लेकिन 'कुछ है' पर मतैक्य रहता है। इनमें समन्वय कैसे हो? आधुनिक काल में मार्क्सवाद जडाद्वैत का पक्षधर है, वेदान्त चेतनाद्वैत स्वीकारता है, 'अद्वैत'-अंश में मतैक्य है। विरोधों पर चिंतन करना, जिसे पाश्चात्यों ने dialectics नाम दिया है, दोनों वादियों के लिये ज़रूरी; मार्क्सवादी विरोध उघाड़ता रह जाता है जबकि अद्वैती विरोध छोड़ने से अविरोध में स्थिर हो जाता है। हमारे आचार्यों का निर्देश है 'अविरोधं निबोध्यताम्' अविरोध ही समझा जाये। विरोध का स्तर ही मिथ्या है अत: छूटा ही है, उसे छोड़ना स्वाभाविक है। 'है' के बारे में सब एकमत हैं अत: सर्ववादिसम्मत सत् ही स्वीकार्य है। जगत् उस व्यापक सत् को समझने का उपाय बनता है। साँप न दीखता तो अधिक संभव था कि 'सामने कुछ है' इस तरफ ध्यान ही न जाता, सत् भी ग्रहण न करते। साँप दीखा तभी है पर ध्यान गया। विवेकी इस तरह जगद्भान को आत्मभान का उपाय बना लेता है। जगत् होता ही नहीं तो विचार किसका करते! जैसे रस्सी समझने के लिये दीखते साँप की ही परीक्षा करते हो वैसे जगत् की परीक्षा से ब्रह्म समझ आयेगा। पहचानने के बाद सर्वत्र वही मिलता रहेगा। जितनी चीजों में सत्ता है उन सबका ज्ञान है क्योंकि सत् और ज्ञान (चित्) अभिन्न हैं। वेद ने ब्रह्म को सत्, चित् के साथ अनन्त भी बताया 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। देश-काल-वस्तु की दृष्टि से 'होने' के साथ 'न होना' जिसके लिये सम्भव हो वह अनन्त नहीं होता, ब्रह्म नहीं होता। कभी है-कभी नहीं या कहीं है-कहीं नहीं या कुछ है-कुछ नहीं ऐसा ब्रह्म नहीं। सब देश-काल-वस्तु में एक-सा भासमान ज्ञान है।

नाम-रूप-कर्मात्मकं 'प्रपंच परिवर्तनशील है, ब्रह्म अपरिवर्त्तनशील है। सत्-चित् तो संसार से सम्बद्ध भी मिलते हैं जैसे 'घड़ा है, घड़े का ज्ञान है',

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेकिन अनन्तता जगत् में कहीं नहीं मिलती। अनन्तता आत्मरूप से ही समझ आती है। 'मैं' ही ऐसा है जो सदा सद्रूप, प्रियरूप तथा भासमान रहता है अत: यही अनन्त है। इसे हृदय-गुफा में ढूँढना चाहिये। देखने वाला मैं, सुनने वाला मैं, दौड़ने वाला मैं आदि तो मैं को जान रहे हैं पर न बदलता जो अपना मैं-रूप उस पर कभी ध्यान नहीं दिया, उसे जानते नहीं, जानने का प्रयास भी नहीं करते। जैसा स्वयं को जानते हैं उससे मोक्ष नहीं होता अत: मान लेते हैं कि मैं को जानना बेकार है! मैं को निर्विकार अनन्त ब्रह्म जानना है, वही ज्ञान मोक्ष देगा। इसका उपाय शमादि-पूर्वक श्रवणादि ही है, बारम्बार लगातार इसी में तत्पर रहे तो धीरे-धीरे मैं का यह वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है। मैं को कर्त्ता-भोक्ता समझना भ्रान्ति है, स्वयं को अकर्त्ता-अभोक्ता समझना, महसूस करना ठीक ज्ञान है। प्रश्न उठे कि कर कौन रहा है, तो जानो कि परमात्मा कर रहा है। कर्तृत्वादि भ्रम दूर करने के लिये विचार है। आत्मा निरंश है अत: इसके लिये विभिन्न विचारों की ज़रूरत होनी नहीं चाहिये लेकिन क्योंकि इस पर हमारे आरोप विविध हैं इसलिये विचार भी विविध चाहिये रहते हैं। शरीर का आरोप है तो अशरीरता का विचार चाहिये, मन का आरोप है तो अमनस्त्व का विचार चाहिये, जिस-जिस का आरोप (भ्रम) है उस-उस के बाध के लिये आवश्यक विचार चाहिये।

शास्त्र-प्रदर्शित विचारों से अविद्या (या भ्रांति) ही मिटती है, आत्मभान तो खुद-ब-खुद होता है 'स्वयमेव अंशुमान् इव'। सूर्य अखण्ड होने पर भी उससे आती किरणों के कोणों के भेद से सूर्य विभिन्न आकार एवं रंगों वाला दीखता है, अनपेक्षित कोण हट जाने पर यथावत् दीखता है। इसी तरह अविद्या और तज्जन्य भ्रम हटने पर आत्मा स्वयं प्रकाश जाता है। जिसने स्वरसाधना दृढ कर ली वह भी कभी गाते-गाते अपस्वर बोल जाये तो कान छूता है कि ग़लती हो गयी, इसी प्रकार साक्षिभाव में रहने का अभ्यासी भी खुद को कर्त्ता-भोक्ता समझे तो शास्त्र का विचार करे कि वस्तुस्थिति निर्विकार चिन्मात्र है। सिरदर्द मुझे है—यह प्रतीति हो तो विचार करो कि दर्द का भी साक्षी ही हूँ, दर्द सिर को भले हो, मुझे नहीं हो सकता। जैसे गाने में अनेक भेद हैं, सब तरह गाते स्वरों को ही हैं, वैसे कभी शरीरत्रय के आधार पर, कभी पंचभूतों के अधिष्ठानरूप से, कभी अजातवाद की दृष्टि से विचार करते रहो पर विचार करना केवल चिन्मात्र का है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अरुणाचल में तपोरत भगवती से महिषासुर ने विवाह का प्रस्ताव रखा तो देवी ने कहा 'मैं बलवान् पति चाहती हूँ, कमज़ोर से विवाह नहीं करूँगी।' महिषासुर ने बल आजमाने को हाथ मिलाया तो हार गया। वह अपनी फौज लाकर युद्ध करने लगा। देर तक युद्ध चला पर नतीजा नहीं निकला। देवताओं ने भगवती से प्रार्थना की कि खुद में छिपी समग्र शक्ति से महिष समाप्त करें, वह रिपु बचाने लायक नहीं है। तब भगवती ने त्रिगुणात्मक त्रिशूल से महिषासुर का सिर काट दिया। देवी ने देखा कि उसके कण्ठ में भगवान् का शिवलिंग था। रक्तधारा से परिप्लुत लिंग की पूजा की और उन्हें दुःख हुआ कि मुझसे शिवभक्त मारा गया 'आहतः शिवभक्तोऽयम् इति शोकः समाविशत्'। देवी जी गौतम ऋषि के पास गयीं और अपने दुःख का कारण कहा। ऋषि ने समझाया कि जो शिवधर्म को काटता है उसे मारने में दोष नहीं, वह रक्षायोग्य ही नहीं है। दिखावा करके धर्म की जड़ खोदने वाले के वेष पर ध्यान नहीं देना चाहिये। जो वास्तव में धर्मार्जन करे वह रक्षणीय है, धर्मविरोधी हन्तव्य ही है। उन्होंने देवी को बताया 'आपने जो किया वह दोष का कारण नहीं। स्नान कीजिये तो भगवान् का दर्शन होगा।'

इस कथा में बताया कि भगवती ही परमेश्वर की परा प्रकृति है जो जीवभूत है। यही एक स्थल है जहाँ ब्रह्म का अपरोक्ष होगा, 'अहम्' में ही ब्रह्म का बोध अपरोक्ष, साक्षात् होगा। किन्तु यह अहम् ही असुर है! जडता और चेतन का प्रकाश मिला-जुला रहते 'मैं'-शब्द का वाच्य अर्थ है। इस वृत्ति में चेतन छिपा हुआ है। अहम्-पद का वाच्य अर्थ 'महिषासुर' है अतः शास्त्र कहता है 'तुम सर्वज्ञ हो' तो लगता है कि कल के बाजार-भाव का पता लगेगा! 'तुम' से वाच्यभूत 'मैं' ही समझते हैं, उसके लक्ष्य को नहीं। साधना से मैं का भेदन करना है, तब उसकी लिंगरूपता प्रकट होगी। साक्षिरूप से देखने पर ही 'लिंग' प्रकट होगा। अहम् का लक्ष्य ही वास्तविक शिवलिंग है। जब तक वाच्य-लक्ष्य का फर्क नहीं तभी तक आसुर भाव रहा। विवेक द्वारा वृत्तिरूप वाच्यार्थ को हटाकर जानने वाले साक्षी को जैसे ही पकड़ा कि मानो सूर्य प्रकट हो गया!।।४२।।

आत्मा निरंश होने से उसका ज्ञान तो निरंश (निष्प्रकारक, अखण्ड) है लेकिन आत्मा के बारे में अज्ञानों का, भ्रमों का भेद होने से उन सब भेदों को हटाने के लिये श्रवण-मनन नाना प्रकार से पुनः पुनः करना पड़ता है। शंका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होती है कि उपाय से प्राप्त आत्मा कभी-न-कभी हाथ से निकल भी जायेगा! सभी संयोगों का अन्त वियोग में होता ही है यह निश्चित है। ऐसे में आत्मलाभरूप मोक्ष नित्य कैसे? समाधान है—

आत्मा तु सततं प्राप्तो ह्यप्राप्तवद् अविद्यया।
तन्नाशे प्राप्तवद् भाति स्वकण्ठाभरणं यथा॥४३॥

आत्मा तो लगातार उपलब्ध ही है, अविद्या से मानो अनुपलब्ध-सा है। अविद्या का नाश होने पर मिला-जैसा लगता है जिस तरह अपने गले का गहना।

आत्मप्राप्ति वैसी नहीं जैसी अनात्मप्राप्ति। जो वस्तु अपने पास न हो, उपाय से मिले, उसी के छूटने की भी बात निश्चित है। आत्मा ऐसा नहीं कि पहले अप्राप्त रहकर प्राप्त होता हो। वैसा हो तो उसे खो भी बैठेंगे। जय-विजय जैसे भगवान् के निकटस्थों को भी तीन जन्मों तक दूर रहना पड़ा। मोक्ष नित्य है क्योंकि आत्मा कभी अप्राप्त है ही नहीं, उसका लाभ तो प्राप्त की ही प्राप्ति है, स्वरूप की उपलब्धि है। ब्राह्मण जन्मजात दक्षिणा पाने का अधिकारी रहता है, नौकरी-व्यापार आदि से मिलने वाले धन का नियम नहीं कि मिले। इसी प्रकार आत्मस्वरूप नित्य प्राप्त है, लौकिक-पारलौकिक कर्म-उपासना के फल यावत्पुण्यस्थायी ही हैं, सदा उपलब्ध नहीं। परमात्मा मुझ चेतन से अलग होता तो न उसकी प्राप्ति नित्य होती, न वह चेतन ही होता, वरन् जड होता! श्रुति उसे 'उत्तमः पुरुषः' कहकर प्रत्यग्रूप घोषित करती है। 'मैं' अनुभूति से समझा जाता पदार्थ ही उत्तम पुरुष है। अभी परमात्मा अत्यन्त दूर (परोक्ष) लगने से 'तस्यैवाहम्' यों भक्ति में समझते हैं कि हम 'उसके' हैं। साधना-प्रभाव से परमात्मा उपस्थित लगने लगेगा तो 'तवैवाहम्' यों उसे सामने सम्बोधित कर सकेंगे; अभी प्रत्यक्ष तो है, साक्षात् नहीं। जब तत्त्व में स्थिति हो जायेगी तब भान होगा 'मैं ही परमात्मा हूँ', यह उत्तम पुरुष का अनुभव है। भगवान् इसीलिये पुरुषोत्तम कहलाते हैं कि उत्तम पुरुष हैं। इसीलिये उनकी प्राप्ति सरल है। जैसे दूसरे की जेब से रुपया निकालना कठिन है, अपनी जेब से निकालना सरल है वैसे अपना स्वरूप होने से परमात्मा को समझना सबसे सरल है।

ऐसा भी परमात्मा अज्ञानवश लगता है मानो उपलब्ध नहीं है। 'अप्राप्त' न कहकर 'अप्राप्तवत्' अप्राप्त की तरह कहा क्योंकि वस्तुतः वह सदा प्राप्त ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। श्रुति ने भी ऐसे प्रसंग में 'नाना इव' कहा कि जो परमात्मा को अनेक-जैसा समझे वह दुर्गति पाता है। क्योंकि अविद्या ही अप्राप्त-जैसा प्रतीत कराती है इसलिये अविद्या नष्ट होते ही जो लगता है 'मिल गया' वह भी मिलने-जैसा ही है, 'प्राप्तवत्' ही है क्योंकि वास्तव में 'मिलना' उसी का सम्भव है जो दूर हो। न वह प्राप्त है, न अप्राप्त वरन् स्वरूप ही है। गले की माला पीठ की तरफ लटक जाये तो छाती पर हाथ फेरकर घबराते हैं कि कहाँ खो गयी, तब तक गले पर हाथ पहुँचता है तो शांति होती है कि मिल गयी; ये दोनों मात्र अनुभव हैं क्योंकि वस्तुतः न खोयी थी, न मिली है। इसी तरह स्वरूप का भी अज्ञान रहते कहना पड़ता है कि मिलेगा लेकिन क्योंकि मिला ही है इसलिये शब्दमात्र से मिल भी जाता है! चूँकि अपना स्वरूप है इसलिये उधर ध्यान देनेमात्र से मिलता है, किसी प्रयास की ज़रूरत नहीं। परमात्मा का स्वभाव ही प्रत्यग्भाव है। यह वह 'मैं' है जो गहरी नींद में भी बना रहता है, शरीर-मन की सब प्रतीतियों से स्वतन्त्र है। सारी उपाधियों से रहित जो 'मैं' वस्तु वही उत्तम पुरुष परमात्मा है। जब तक शास्त्रोक्त रीति से पदार्थ-शोधनपूर्वक अखण्ड तत्त्व समझें नहीं तब तक नित्यमुक्त को मैं नहीं मान पाते, समझने पर स्पष्ट होता है कि मैं ही नित्यमुक्त हूँ। इसी साक्षात्कार से समग्र ब्रह्माण्ड का बाध होता है, पता चलता है कि यह उत्पन्न ही नहीं हुआ था! अभी जो अनादि-अनन्त सुख-दुःख का प्रवाह वह सर्वथा उड़कर अखण्ड आनन्दस्वरूप ही रहता है। क्योंकि यह वस्तुस्थिति है इसलिये इसे जानती बुद्धिवृत्ति भी नहीं चाहिये रहती, अविद्या नष्ट करके वह वृत्ति भी हट जाती है, उसकी ज़रूरत भी नहीं।

एक पिता-पुत्री यात्रा के दौरान किसी धर्मशाला में रुके जहाँ एक महात्मा भी ठहरा था। लड़की ने देखा कि महात्मा शिवपूजा नित्य करता है तो वह भी शिवपूजा का नियम लेने का हठ करने लगी। पिता ने महात्मा से शिवलिंग बेचने को कहा तो उसने मना कर दिया। लड़की ने हठ पकड़ लिया, दो दिनों तक भोजन भी नहीं किया। भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये जिसके प्रभाव से महात्मा के मन में आया 'इसे इतना प्रेम है तो दिये देता हूँ।' उन्होंने उसे शिवलिंग दे दिया। वह भी प्रेम से नित्य पूजन करती रही। कभी-कभी शिवदर्शन हो जाता था। उसने रोज़ दर्शन की प्रार्थना की। भगवान् ने कहा 'रोज़ पंचमुखी रूप में तो नहीं पर साधु-रूप में दर्शन दे दूँगा। रोज़ एक बार आऊँगा, खाना माँगूँगा, तू खाना देगी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तो पहचान लेगी।' वह हमेशा खाने को कुछ साथ रखने लगी, जब महात्मा आकर माँगते तो देती। उसके विवाह के दौरान, फेरों के समय ही साधु ने आकर खाने को माँगा, उसने दे दिया। डोली के समय रोने-धोने के बीच भी साधु आया, उसने भोजन दिया। ससुराल पहुँचने पर वहाँ भी यही क्रम चला। सास-ससुर बिगड़ गये कि महात्मा जब-चाहे आ जाता है और यह भोजन दे देती है। पति ने लड़की से पूछा तो उसने सारी बात बता दी, पति को दर्शन भी करा दिये। पति भी भक्ति करने लगा। माता-पिता कहें कि पत्नी को नियंत्रण में रख तो पति बोले 'भोजन ही तो देती है, सोना-चाँदी तो देती नहीं, देने दो।' घर वालों ने दोनों को निकाल दिया। जो कुछ उनके पास था सब धीरे-धीरे खत्म होने लगा। भगवान् से लड़की ने कह दिया 'आपको खाना देना एक दिन बंद हो जायेगा।' भगवान् ने कहा 'मेरे चरण धोकर पानी रख लो, वह राजकुमारी को पिलाना, उसका कोढ दूर हो जायेगा।' उसने ऐसा ही किया तो राजा ने प्रसन्न होकर उसके पति को नगर-सेठ बना दिया! घरवालों ने सुना तो उन्हें बुलाने लगे पर अब उन्हें वहाँ क्या रुचि होनी थी! उनका वास्तविक नगरसेठपना प्रकट हो गया था।

विचार करो : यह संसार ही धर्मशाला है। इसमें कभी परमात्मज्ञानी महात्मा के पास का कमरा अर्थात् सत्संग मिलता है। ऐसे तत्त्वनिष्ठ की शान्ति-कान्ति-दान्ति देखने से स्वयं वैसा बनने की इच्छा होती है। अन्य कार्य दण्डे के ज़ोर से हो सकते हैं, प्रेम नहीं कराया जा सकता! परमात्मा की ओर हृदय आकृष्ट होना ही भक्ति या मुमुक्षा है। शान्ति आदि बाहर स्वाभाविक होती ही तब हैं जब भीतर आनन्द की हिलोरे हों! जैसे बर्फ की बोतल के बाहर भी कुछ ठण्डक होगी वैसे पूर्ण आनन्द से भरे चित्त की बाहरी अभिव्यक्ति शान्ति-दान्ति होगी। अत: ज्ञानी के शमादि स्वभाव का साधक यत्नत: सम्पादन करता है। अभ्यास का नतीजा होगा कि परमात्मदर्शन होने लगे। समाधि-सा दर्शन तो व्यवहार में नहीं लेकिन प्रत्यगात्मभाव (मैं-पना) उठने पर साधक पहचान लेता है कि इससे लक्षित तत्त्व परमात्मा ही है। जीव-जगत् देखते ही उनका अधिष्ठान परमात्मा समझ आता है। अनात्मरूप शरीर जाठराग्नि से निरन्तर जलने के कारण यह चलता-फिरता श्मशान ही है जहाँ परमेश्वर कूटस्थरूप से रहते हैं, जीवरूप से कामना द्वारा विषयों की भीख माँगते हैं! ऐसे शरीर में आत्मबुद्धि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

छोड़कर इसके अधिष्ठान को आत्मा जानना चाहिये। यों नित्य-निरन्तर परमात्मा की पहचान बनी रहे तो 'नगर-सेठ' बन जाते हो, विद्वान् की अर्चना से दूसरे भी वैभव पाते हैं। आत्मस्वरूप की अवगति ही उसकी प्राप्ति है।।४३।।

अरुणोदय के उदाहरण से आत्मा की परोक्ष अनुभूति बताकर महावाक्य-जन्य वृत्ति में अहं-सम्बन्ध के निवारणार्थ निदिध्यासनपर्यन्त साधन सूचित किये। मध्याह्न-सूर्य के समान आत्मस्वरूप स्वयमेव भासता है। इस स्थिति में सपने में भी आत्मसम्बद्ध अज्ञान नहीं रहता। ज्ञान के बाद ऐसी दृढता के लिये ही प्रयास चाहिये। आत्मा में ब्रह्मरूपता का भान न रहते अनादि काल से कर्तृत्वादि व्यवहार चल ही रहा है; 'मैं राजा' का भान न हो तो भीख माँगकर, शिकार खेलने से प्राप्त मांस खाकर आदि भी जीवन बीतता है; जब तक 'मैं ब्रह्म हूँ' पता नहीं तब तक आत्मा ही रूपादि विषयों की तरफ भटक रहा है सुख की भीख माँगने। 'यह मेरी कामना का विषय है, इससे सुख मिलेगा' यह समझकर विषयों की ओर ही जीव जाता है। जब आत्मानंद में स्थिति होगी तब सुख माँगेगा नहीं वरन् सब को सुख ही देगा, जानेगा कि मेरा ही स्वरूप सुख सबको आनन्द-सम्पन्न कर रहा है। ऐसी दृढ भ्रान्ति भी होती ही है यह सोदाहरण कहते हुए जीवभाव की काल्पनिकता स्पष्ट करते हैं—

स्थाणौ पुरुषवद् भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता।
जीवस्य तात्त्विके रूपे सम्यक् दृष्टे निवर्त्तते ।।४४।।

ठूंठ में पुरुष की तरह ब्रह्म में जीवता भ्रम से की गयी है जो जीव के वास्तविक स्वरूप को भली भाँति देख लेने पर हट जाती है।

अँधेरे में एकाएक ठूंठ पर नज़र पड़े तो लगता है 'कोई पुरुष बैठा है'। पुरुष-विषयक संस्कार मन में हैं, ठूंठ के आकार-प्रकार व बैठे पुरुष के आकार-प्रकार में समानता का भान होता है, ठूंठ ठीक से दीखता नहीं तो भ्रम होता है कि कोई पुरुष है। जीव-जगत् के भी इसी तरह हममें संस्कार हैं तो ब्रह्मस्वरूप के अज्ञान के रहते जीव-जगत् का भ्रम हो रहा है। संस्कार के लिये प्रमा नहीं चाहिये, भ्रम से, झूठी बात सुन-पढ़कर भी संस्कार पड़ जाते हैं। अनादि भ्रम-प्रवाह में यह भ्रांति चल रही है।

आचार्य वेदव्यास आदि ने समझाया है कि कपड़े पर बने चित्र-सा यह जड-चेतन का भ्रम है। कपड़े पर पहाड़, नदी, फौज, हाथी, राजा आदि का चित्र

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बन जाता है। जब तक चित्र लपेटकर रखा है तब तक उसी कपड़े में पहाड़ आदि का भ्रम नहीं होगा, फैलाकर लटका हो तभी वे सब दीखेंगे। भूगोल पढ़ाने के नक्शे भी ऐसे ही लपेट कर रखे हों तो सब समान दीखते हैं, खुलें तभी सबके भेद प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार लपेटी माया में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड छिपे पड़े हैं, रोज़ नया नक्शा खुलता है; शाम को पता नहीं कि कल कौन-सा नक्शा खुलना है, अगले क्षण क्या दृश्य आना है यह तक पता नहीं! प्रसारित होने पर, फैलने पर ही सब विशेष व्यक्त होते हैं। कपड़े को कड़ा बनाने के लिये माँड चढ़ाते हैं, फिर पेंसिल से चित्र का खाका खींचते हैं, रेखांकन करते हैं, फिर खाके-अनुसार रंग भरते हैं। किसी चित्र में पैजामा, किसी में पैंट, धोती पहनी दिखाते हैं, किसी पर जटाजूट बनाते हैं, नदी में पानी बहता दिखाते हैं इत्यादि। इसी प्रकार संसार-चित्र के लिये शुद्ध चेतन कपड़े की जगह है। यहाँ दीखते जड-चेतन सब उस चेतन तत्त्व के सिवाय कुछ नहीं हैं। जैसे चित्र में आधार-भूत कपड़ा 'ढँका' रह जाता है, कपड़ा है यह भान नहीं रहता, वैसे संसार में परमात्मा छिपा रह जाता है, दीखता ही नहीं। जो राजा, हाथी आदि वास्तव में हैं नहीं, दीखते वे ही हैं; जो वास्तव में है वह कपड़ दीखता नहीं! माँड़ की जगह माया, अज्ञान है। जब तक ब्रह्म का अज्ञान नहीं होगा तब तक उसमें जगत्-चित्र खींचा नहीं जाता अतः मायाविशिष्ट चेतन को कारण (ईश्वर) कहते हैं। सूक्ष्म चित्र, पेंसिल के खाके की जगह हिरण्यगर्भ है तथा रंग चुके चित्र की जगह विराट् है। शुक्र, मंगल आदि तक जाने वाले यान हों या बैलगाड़ी, सब इस विराट् चित्र में ही हैं। सृष्टिकाल में यह चित्र फैला हुआ है, प्रलयकाल में सिमट जाता है। जब दीख रहा है तब भी वास्तव में आधारभूत वस्त्र है। चित्र में भले ही धोती-स्थल में वस्त्र, जटा-स्थल में जटा आदि भेद दीखें पर है सर्वत्र वस्त्र ही! चाहे एक जगह राजा के खीन-खाब वाले कपड़े दीखते हैं, दूसरी जगह पंडित जी का पीताम्बर दीखता है पर है दोनों जगह वही चित्रपट। उसी पर जहाँ पहाड़-नदी हैं वहाँ भी कपड़ा है सही, पर बिलकुल नहीं लगता कि कपड़ा है। पीताम्बर-स्थल में जैसा है वैसा न सही पर इतना लगता तो है कि कपड़ा है। अधिष्ठान पट एक ही है, अध्यस्त पट अर्थात् वस्त्राभास विभिन्न हैं। राजादि द्वारा पहने दीखते कपड़े भी कभी पैर-पेट आदि को ढाँक नहीं रहे! अर्थात् धोती-कुर्त्ता आदि दीखने पर भी हैं नहीं। इसलिये वस्त्र नहीं, वस्त्राभास हैं। ऐसे ही माया ने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सूक्ष्म शरीर बनाकर रंग भरे तो पहाड़ आदि में चैतन्य का भ्रम नहीं, जीवों (अन्तःकरणों) में ही लगता है कि चेतन हैं। अधिष्ठान चेतन सर्वत्र एकरस है, जीव चिदाभास ही है, चित् की तरह ही है, वास्तव में है नहीं। चेतन की वास्तविकता है स्वतन्त्रता। जीवों में स्वतन्त्रता दीखती तो है पर है नहीं! चिन्मात्र ही स्वतन्त्र है, चिदाभासों में अपनी स्वतन्त्रता नहीं, बिम्बभूत चित् की स्वतन्त्रता का आभास भले ही दीखे।

जीव का वास्तविक रूप अधिष्ठान ब्रह्म है जिसे सही तरह समझ लेने पर जीवभाव हट जाता है। गीता में अन्तिम उपदेश 'सर्वधर्मत्याग' का है। जीव ने कर्तृत्व-भोक्तृत्व की स्वतन्त्रता अपने में मान रखी है; 'मैं पापों का कर्त्ता हूँ, मैं पापों का फल भोगूँगा' ये ही जीव के 'धर्म' हैं। इस बोझ को छोड़ना है। मन-बुद्धि-शरीर आदि के सब धर्म छोड़कर 'माम्' मुझ चिन्मात्र आत्मा को अपना स्वरूप समझ जाये तो जीव का पापरूप बन्धन नष्ट ही है। जिस प्रकार 'सत्य केवल चित्र का आधारभूत पट ही है' समझते ही उस पर दीखते पदार्थों का भेद नहीं रहता वैसे चिन्मात्र अधिष्ठान पता चलते ही सारा भेद समाप्त हो जाता है। स्वतन्त्र एक परब्रह्म परमात्मा ही है। राम-रावण अलग दीखते हैं, उनका अधिष्ठान दीखता नहीं तो वे विभिन्न ही प्रतीत होते हैं, दीख जाये तो भ्रम मिट जाये। झूठ हटाना चाहो या मत चाहो पर सत्य पता लगने पर झूठ रहेगा तो नहीं ही! वेद में सबका पोषण करने वाले परमात्मा से प्रार्थना की है 'तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये'। सत्य देखना हिम्मत का कार्य है! झूठ से प्रेम है अतः सत्य देखने से डरते रहते हैं क्योंकि यह निर्णय है कि सत्य दीखा तो झूठ रह नहीं सकता। अनादि काल से घिरी झूठ की बदबू को सत्य की तीव्रता निकाल फैंकेगी। है सत्य बड़ा सरल! साधना का उद्देश्य है सत्यदर्शन के समय जगे रहना, इसी के लिये पूषन् से प्रार्थना की।

देवराज की पुत्री कला का धनञ्जय से विवाह हुआ। दोनों रोज़ गंगास्नान, शिवपूजा आदि करते थे। एक दिन गंगा की ओर जाते हुए धनञ्जय को दीखा कि रास्ते में धन पड़ा है। स्त्री स्वभाव है पड़े धन को चाहना। जिसके मन में आये 'यह धन उठा लूँ' उस पर स्त्रीत्व ही हावी जानना चाहिये। आयकर, बिक्रीकर आदि कानून से राष्ट्र का धन है, उसे स्वयं हड़पने वाले व्यापारी भी उठाईगीर ही हैं क्योंकि राष्ट्रीय सम्पत्ति हथिया ली! ऐसों पर स्त्रीत्व हावी है। पुरुष को स्पष्ट

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रहता है कि जो मेरे हकका नहीं वह मुझे नहीं चाहिये। देहरक्षा प्रारब्ध का कार्य है, उसके लिये चिन्ता पुरुष नहीं करता। अन्य के धन को हथियाने से व्यर्थ पाप का बोझ बढ़ेगा। धनञ्जय ने सोचा कि कहीं कला धन न लेने लगे अत: कहा 'आज शिवाभिषेक करना है, तुम गंगास्नान रहने दो, घर जाकर अभिषेक की तैयारी करो।' वह रास्ते से ही घर लौट गयी।

मारीच राक्षस का प्रयत्न कला के अपहरण का था किन्तु दम्पती की सावधानी व शुद्धतावश उसे अवसर नहीं मिलता था। दुर्बलता होने पर ही आसुरी शक्ति हावी हो पाती है। कला उस दिन गंगास्नान बगैर किये आ रही थी तो तमोगुण हावी हो गया। मौका देख मारीच ने धनञ्जय का रूप धारण किया और घर पहुँचकर बोला 'बगीचे में अंगूरों की सुन्दर बेलें फली हैं, वहाँ जाकर अभिषेक करेंगे।' कला ने कहा भी कि घर में अभिषेक करते हैं, वहाँ तो कर ही लेना चाहिये पर मारीच ने डाँटा, 'भर्तुरप्रतिकूलत्वं नारीणां धर्म उच्यते,' पत्नी का धर्म है पति के अनुकूल चलना, जल्दी से तैयार हो जा।' आज भी ग़लत काम करवाने के लिये धर्म का नाम लिया जाता है और आस्तिक व्यक्ति घबरा भी जाते हैं! कला चुपचाप चल दी। रास्ते में भोजन बनाया। परोसने से पूर्व भगवान् को समर्पण करने लगी तो मारीच खाने की जल्दी मचाने लगा। कला को उसका व्यवहार अखरा, उसने भगवान् शंकर से प्रार्थना की 'हे भगवन्! बताओ, यह मेरा पति है भी या नहीं!' भगवान् ने बता दिया कि वह मारीच राक्षस है। कला उठ खड़ी हुई, बोली,'तू मारीच है, मुझे यहाँ क्यों लाया? मारीच ने बलात्कार का प्रयास किया पर असमर्थ रहा तो क्रोध में उसे काटने को तैयार हुआ। कला 'नम: शिवाय' जपने लगी, तभी उसने कला की गर्दन काट दी। भगवत्स्मरण करते हुए मरने से वह सीधी शिवलोक गयी। तब तक उसका पति धनञ्जय गंगा-स्नान कर घर लौटा। पत्नी वहाँ न देखकर सोचने लगा कहाँ गयी। ध्यान लगाकर देखा तो पता चल गया कि राक्षस मारीच ने उसे मार डाला है। उसे पश्चात्ताप हुआ क्योंकि उसी ने गंगास्नान से वंचित कर कला को घर लौटाया था।

विचार करो : अन्त:करण की वृत्ति और उसमें चिदाभास, दोनों मिलकर ही ज्ञान होगा। वृत्ति धन की लोभी है: चेतन घड़े को केवल जानता है, वृत्ति घड़े को (संस्काररूप में) उठा लाती है! बाजार में घूमते हुए अल्मारी में पड़ा रसगुल्ला देखा तो वृत्ति ने अन्दर रख लिया। अब याद आयेगी, इच्छा होगी,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बंगाली मार्केट जाकर रसगुल्ला लाना पड़ेगा। निर्वृत्तिक ज्ञान निर्विकल्प समाधि में रहेगा। वह वैसा है जैसे बिना पत्नी के गंगास्नान। वृत्ति को वह लाभ न मिला, पति का साथ छूटा, तो मारीच द्वारा उसका अपहरण हो गया! मनोवृत्ति विभिन्न रूप धारण करती है कि किसी में तो जीव फँसे; इसे करने वाला मारीच है संस्काररूप राक्षस। संस्कारशून्य अवस्था में 'ॐ नमः शिवाय' से अपने-आपको ढाँको। अभी तो संस्कारों से सबको ढाँकते हैं: जो मेरे संस्कारों से अच्छा माना गया वह अच्छा, जो बुरा माना गया वह बुरा; किन्तु अब अपने संस्कारों से नहीं वरन् शिव से स्वयं को आवृत करो। शिव का नाम लेने से भी दोष हट जाते हैं। 'यह अशिव नहीं, शिव है' जानकर प्रत्येक चीज़ कल्याणकारी बनेगी। अज्ञान-विशिष्ट चेतन से मन मिला है, शुद्ध चिन्मात्र को समझने से शुद्ध साक्षी, चिन्मात्र रह जाना है। व्यवहार की सारी स्वतन्त्रता परमेश्वर की ही है। हम भले ही किसी को बुरा देखते हैं पर है वह भी शिव की ही लीला। अन्तःकरण को भी चलाने वाला परमेश्वर ही है। सम्यक् ज्ञान के बिना भ्रम या जीवभाव नहीं हटता, उसी से हटकर सर्वत्र परमेश्वर दीखने लगता है।।४४।।

जीवचेतन वैसा ही भ्रम है जैसे चित्रपट पर अंकित राजा, भिक्षु आदि के कपड़े। आधारभूत कपड़ा सत्य होने पर भी चित्रभूत कपड़ा सत्य नहीं। इसी तरह अधिष्ठान चेतन सत्य है पर उसमें असंख्य जीवचेतन भ्रम हैं। इसीलिये सम्यग् ज्ञान जीवभाव का बाधक है। इसलिये अभी होता 'मैं-मेरा' अनुभव दुर्बल है, इसके सहारे चित्तत्त्व की अखण्डता निरस्त नहीं होती यह समझाते हैं—

तत्त्वस्वरूपानुभवाद् उत्पन्नं ज्ञानमञ्जसा ।
अहं-ममेति चाऽज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत् ।।४५।।

तत्त्व के स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न सही ज्ञान 'मैं और मेरा' इस अज्ञान को वैसे ही दूर कर देता है जैसे (दिशा का) सही ज्ञान दिग्भ्रम को (या कोई भी तत्त्वज्ञान उस तत्त्व के अज्ञान से होते भ्रम को)।

चिदाभास प्रतीत चित्-सा होता है पर है नहीं, है 'मैं' जिससे 'मेरा' का भी भ्रम हो रहा है। वास्तविकता चिन्मात्र है जिसे समझने से यह भ्रम मिटेगा। मैं-मेरापन प्रमाणसिद्ध होता तो इनका बाध न होता पर हो जाता है अतः ये अज्ञान से ही हैं। शतश्लोकी-नामक प्रकरण में समझाया है कि दुःख के बीज अहं-मम हटाने के ही योग्य हैं, बचाने के नहीं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'यः कश्चित् सौख्यहेतोः त्रिजगति यतते नैव दुःखस्य हेतोः
देहेऽहन्ता तदुत्था स्वविषयममता चेति दुःखास्पदे द्वे।
जानन् रोगाभिघाताद्यनुभवति यतोऽनित्यदेहात्मबुद्धिः
भार्यापुत्राऽर्थनाशे विपदमथ परामेति नाराति नाशे ।।' (१५)

सभी प्रयत्न, सब चेष्टाएँ सुख के लिये होती हैं। सुख वास्तव में शिव है अतः जिसे सुखवाला बनाना हो उसमें शिव को डालो जैसे मीठा बनाने के लिये शक्कर डालते हो। कारण क्या? बेसन, दाल, मैदा आदि जिससे मिठाई बन रही है वह स्वयं मीठा नहीं। इसलिये, यदि किसी को मिसरी खिलाना चाहो तो क्या पूछोगे 'कितनी शक्कर डालें?' मिसरी स्वयं मीठारूप है। ऐसे ही दाल-साग में नमक पड़ता है, नमक में नहीं। जो जिसका स्वरूप है उसमें उसे जोड़ने की ज़रूरत नहीं होती। शरीर-मन आनन्दघन परमात्मा से उत्पन्न नहीं इसलिये इन्हें सुखी करने का प्रयत्न किया जाता है। ये जड अज्ञान के कार्य हैं अतः दुःखरूप हैं, सुखरूप नहीं अतः इनकी इच्छा पूरी करने की कोशिश होती है ताकि इनमें कुछ सुख आये। परमात्मा आनन्दघन है, आनन्दस्वरूप है। शरीर-मन से स्वयं को एक समझने से अपनी आनन्दरूपता का भान नहीं। इन्हें दुःखरूप समझ लिया तो इन्हें छूने की भी इच्छा नहीं रहेगी। आग स्वभाव से जलाती है, यह उसका दोष नहीं, इसी प्रकार अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण शरीर-मन का स्वभाव ही दुःखरूप है। आत्मा का स्वभाव सुखरूप है। अज्ञान हटने पर अपनी ज्ञानघनता का पता चलता है, फिर देहादिसम्बन्ध निरस्त रहता है।

शरीर में मैं-पना हुआ तो 'स्वविषयममता' शरीर के विषयों के प्रति मेरापन पैदा होगा। शरीर में अहन्ता रखे रहें और विषयों में ममता हट जाये यह नहीं हो सकता। अज्ञान स्वयं दुःख नहीं देता, अहन्ता-ममता पैदा करके ही दुःख देता है। दो को लड़ाकर खुद चुप भी बैठा रहे तो उसे शान्त नहीं मान सकते, सारी अशांतिका वही बीज है। अकेला अज्ञान गहरी नींद में रहता है पर कोई दुःख नहीं दे पाता इसलिये जाग्रत्-स्वप्न में अहन्ता-ममता पैदाकर कसर निकालता है! दुःखास्पद, दुःख के प्रति कारण ये द्वोनों मिलते हैं पर मूल कारण अज्ञान है, वह रहेगा तो इन्हें पैदा करता रहेगा। अहन्ता-ममता ही दुःख देने वाले हैं, अन्य कुछ नहीं। किसी के मरने से दुःख नहीं होता, अपने शरीर-मन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से सम्बद्ध पत्नी-पुत्र-मित्रादि के मरने से ही दुःख होता है। जब कभी असम्बद्धों की मृत्यु आदि से सहानुभूति होती है तब भी स्वयं को ज्ञायमानों के मरणादि से ही, अज्ञायमानों के मरणादि से नहीं। कहीं-न-कहीं देहादिसम्बन्ध हो तभी दुःख होगा, स्वतः नहीं। अपने शरीर-मन और उनसे सम्बद्ध शरीर-मनों के कारण ही रोगादि का सम्बन्ध व तज्जन्य दुःख होता है। अनित्य, विकारी शरीर-मन में मैं-बुद्धि की, तभी आधि-व्याधि से क्लेश होता है। मेरापन पत्नी-पुत्र में किया तो उनके भी रोगादि से क्लेश हो जाता है। सार यही कि दुःख हटाने के लिये मैं-मेरापन हटाना पड़ता है। इसीलिये कहा है कि गृहस्थ अपने भी घर में अतिथि के समान रहे! व्यवहार सारा करो पर जानो कि हो अतिथि ही। तुम्हारे घर ठहरा अतिथि घर के कामों में हाथ बँटा देता है, तकलीफ में हमदर्दी रखता है लेकिन भीतर तटस्थता बनी रहती है। इसी तरह घर का मालिक भी रहे।

सुलभा संन्यासिनी ने जनक को समझाया कि राजापन कैसी खोखली मान्यता है। राज्य में असंख्य प्राणी हैं जो धरती-जल आदि का उपभोग करते हैं, सारा राज्य राजा ही तो भोगता नहीं। सारा किला, सारा महल भी वह नहीं भोगता। शरीर लेटे, इतनी जगह तो संन्यासिनी को भी मिलती है! राजा का केवल अभिमान है कि 'मैं राज्य का मालिक'। घर हो या राज्य, करेंगे सब अपने मन की, मालिक होने के अभिमान से गृहपति या राजा दुःखी होता रहेगा। गलती लड़का करेगा, 'मेरी नाक कट गयी' पिता समझता रहेगा। यहाँ तक कि तुम्हारा शरीर भी 'तुम्हारा' कितना-सा है? बढ़िया स्वादिष्ट बादाम का हलवा मुँह में डालकर निगलने तक की भले ही तुम्हारी हिम्मत है, आगे पेट हजम करे- न करे इस पर तुम्हारा नियंत्रण नहीं! बैठ सकते हो पर घुटना दूखे-न दूखे यह तुम्हें नहीं पता। इस शरीर पर भी तुम्हारी मल्कियत है कहाँ! यही हाल मनका है। हो यहाँ अतिथि ही, भ्रम पाल रखा है कि मालिक हो। सर्वत्र इच्छा तुम्हारी नहीं वरन् परमेश्वर की ही पूरी होती है अतः 'गृहेश' वही है, जीव अतिथिमात्र है। जैसे मेहमान का काम पूरा होते ही चल देता है वैसे जीव का हाल है। आनन्दघन परमात्मा ही जीव का निज धाम है, उसे जाना वहीं है। जैसे अपने काम के प्रति अतिथि जागरूक रहता है, भले ही घर में सहायतादि कर दे, इसी तरह जीव को परमानन्द की ओर जाने के प्रति सजगता चाहिये, उस पुरुषार्थ-प्राप्ति में ढील न हो। शरीर आदि के सारे व्यवहार करो पर उनमें ममता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का भ्रम मत पालो, अपने लक्ष्य को पाने की लगातार कोशिश करते रहो। भोगों का आवागम अभी भी तुम्हारे हाथ में नहीं, ईश्वरेच्छा से ही हो रहा है तो इसकी क्यों चिन्ता करनी कि भोग कैसे मिलेंगे, ठहरेंगे। सर्दी, गर्मी, बारिश सब तुम्हारे लाये तो आती नहीं, तुम्हारे भेजे ओले चले नहीं जाते! संसार के सभी पदार्थ ईश्वर के नियंत्रण में आयेंगे-जायेंगे 'आयात्रायास्यतीदं जलदपटलवद् यातृयास्यत्यवश्यम्'। देहपर्यन्त सब विषयों के बारे में यही निश्चय रखो, तभी इस ओर से निश्चिन्त, निश्चेष्ट होकर परम धाम जाने का क्रम जारी रहेगा। सर्वत्र शिवदृष्टि हो तभी सदा सन्तोष संभव है।

चाहे जितना सुन्दर बना तैलचित्र हो, पास जाकर आँखें नज़दीक ले जाकर देखो तो रंगों के भद्दे धब्बे ही दीखेंगे। दूर हटते है यथावत् सुन्दर चित्र दीखेगा। ऐसे ही यह जगत्-चित्र है! साक्षिभाव रखकर, दूरी रखकर देखो तो सुंदर, व्यवस्थित दीखेगा। जहाँ जगत् के किसी टुकड़े में अहन्ता-ममता लगायी वहाँ बदसूरती, अन्याय, दुःख दीखने लगेगा। भूख तेज़ लगेगी तो खाने का सुख ज़्यादा आयेगा; साक्षी के सामने दोनों हैं तो भूख 'दुःख' नहीं, भूखे को भूख से घनिष्टता है तो उसके लिये भूख दुःख है। शिवदृष्टि से जगत् देखें तो सन्तोष बना रहे। एक सेठ के सन्तान थी नहीं, चाहता था उसके बाद धन का सदुपयोग हो। इसके लिये धैर्यवान् महात्मा खोजने लगा क्योंकि महात्मा में पक्षपात नहीं होगा और धैर्यवान् में अविवेक नहीं होगा। वह महात्माओं से सम्पर्क करता और उन्हें क्रोध दिलाने के प्रयास करके देखता कि कितनी जल्दी विचलित होते हैं। एक साधु के पास नौकरों के हाथ भोजन भेजा, नौकरों ने उस महात्मा से कहा 'आपके लिये भोजन लाये हैं' पर दिया कुछ नहीं, सारा खुद खा गये, बोले 'आपके लिये बचाकर रखना भूल गये।' महात्मा ने कहा 'कोई बात नहीं, कभी-कभी व्रत भी रखते ही हैं!' दूसरे दिन सेठ गया, कहा 'आपके लिये भोजन आ रहा है। कल के तो नौकर नालायक थे।' महात्मा बोले 'परमेश्वर की चर्चा करो, संसार अपने ढंग से चलता रहता है।' बात-चीत होती रही, भोजन नहीं पहुँचा। सेठ ढूँढने निकला। कुछ देर बाद आकर बोला 'वे लाये तो थे रबड़ी, कचौड़ी वगैरह पर सब को भूख लगी तो हम ही वह सब खा गये। कुत्ते को डालने के लिये चने की दो रोटियाँ लाये थे, वही बची हैं।' महात्मा ने वे ही ले लीं! उन्हें पानी में चूरकर खाने को था कि एक भिखारी आकर बोला 'मैं तीन दिनों से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भूखा हूँ, कुछ हो तो खाने को दो।' महात्मा ने वे रोटियाँ उसे दे दीं। सेठ ने कहा 'आप ही खा लेते।' उसने कहा 'मैं तो दो ही दिन से भूखा हूँ, यह तीन दिनों से भूखा है, इसी को ज़्यादा ज़रूरत है।' इतनी शान्ति व धैर्य देखकर सेठ सर्वथा सन्तुष्ट हो गया।

'मैं ऐसा करूँगा तो ऐसा हो जायेगा'—इस तरह सोचने वाला कर्तृत्वभाव नहीं छोड़ पाता। एक परमात्मा ही सर्वकर्त्ता है यह समझने पर ही अपना (जीव का) कर्तृत्व हटेगा। इसके लिये शान्ति और धैर्य चाहिये, वे पूर्ण हों तो सेठ-जैसा परमात्मा 'वसुदानः' सारा धन देने को तैयार है। संसार के प्रति निश्चित दृष्टि यही है कि ईश्वरेच्छानुसार इसमें सब संचालित हो रहा है, हम जीवभाव रखकर इसमें कोई हेर-फेर नहीं कर सकते। वामन, राम, कृष्ण आकर चले गये, संसार जैसे का तैसा बिगड़ा ही है। कृष्ण के सामने उनका परिवार खान-पान में भ्रष्ट होकर ऋषिशाप से नष्ट हो गया! ऐसे संसार को हम सँभाल लेंगे यह अभिमान केवल मूर्खता है। यही ज्ञान अहन्ता-ममता नष्ट करेगा। सारी सृष्टि ईश्वर की और उसी से नियन्त्रित है यह याद रख सब परिस्थिति में सन्तुष्ट रहना उचित है।।४५।।

'मैं-मेरा' की भ्रान्तियाँ मिटने से सब कुछ आत्मरूप प्रतीत होता है यह विद्वान् की स्थिति बताते हैं—

सम्यग्विज्ञानवान् योगी स्वात्मन्येवाऽखिलं स्थितम्।
एकं च सर्वमात्मानम् ईक्षते ज्ञानचक्षुषा ।।४६।।

ठीक प्रकार के अनुभव से सम्पन्न योगाभ्यासी ज्ञानरूप चक्षु से अखिल विश्व को निजात्मा में आरोपित तथा अद्वितीय आत्मा को ही सर्व देखता है।

शरीर में मैं-बुद्धि और शरीरसम्बद्धों में मेरा-बुद्धि यह अज्ञान का प्रकट रूप नष्ट होने पर अद्वैत स्पष्ट होता है। पूर्व को पश्चिम समझने जैसा देहादि अनात्मा को आत्मा समझना है। जैसे पूर्व-पश्चिम अत्यन्त विरुद्ध वैसे आत्मा-अनात्मा अत्यन्त विरुद्ध फिर भी भ्रम हो ही रहा है। जिसके बारे में प्रतीत हो वह 'मैं' नहीं हो सकता, जिसे प्रतीति है वह 'यह' नहीं हो सकता लेकिन अज्ञान का माहात्म्य ऐसा कि दीखने वाले शरीर को देखने वाला 'मैं' समझ रहे हैं। तत्त्वस्वरूप के प्रामाणिक निश्चय से ही यह अज्ञान निवृत्त होता है। श्रवणादि से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हुआ आत्मबोध ही सम्यक् (ठीक) ज्ञान है। यह मैं-मेरा को हटाता ही है। शरीर और शरीर-सम्बन्धियों के प्रति मैं और मेरा भाव नहीं होना ही विज्ञान है। इससे सम्पन्न ही योगी कहलाता है। अज्ञान रहते संसार बन्धन है, विज्ञान होने पर संसार अपने ऐश्वर्य का विलास हो जाता है! मुनीम अगर दुकान खरीद ले तो जैसे काम पूर्ववत् करने पर भी उसे बन्धन न जानकर उसमें स्वतंत्रता समझता है वैसे अज्ञानी संसार-निर्वाह बन्धनरूप से कर रहा है, विज्ञान होने पर संसार-व्यवहार यथावत् करने पर भी उससे पराधीन न होकर स्वाधीन रहता है, उसे स्वयं पर कल्पित देखता है। अन्य के लिये करना—यह पराधीनता का रूप है। स्वयं को पूर्ण परमात्मा जान लेने पर क्योंकि परमात्मा के लिये ही करता है इसलिये स्वतन्त्र रहता है। सारा जगत् है प्रत्यगभिन्न परमात्मा के लिये। प्रत्यगात्मा आगे किसी के लिये नहीं है। सब चीजें, सारे सुख अपने लिये चाहते हैं पर यह प्रश्न ही नहीं उठता कि 'मैं किसके लिये?'

शरीर-मन, इनके क्रियाकलाप भी इन्हीं के लिये नहीं वरन् मेरे लिये चाहिये और मैं किसी के लिये नहीं इसलिये मैं ही सर्वप्रधान हूँ। मैं ही सर्वथा स्वतन्त्र तत्त्व है। स्वतन्त्र वह नहीं जिसे दूसरों से कहना पड़े कि ऐसा करो, कहने वाला तो अपने को परतन्त्र बना रहा है क्योंकि करना-न करना दूसरे के हाथ दे रहा है! इसलिये दूसरों के भरोसे रहने वाला स्वतन्त्र नहीं। संगी-साथियों को परतन्त्र बनाओगे तो स्वयं भी परतन्त्र रहना पड़ेगा, सबको स्वतन्त्र बना सके तो खुद स्वतन्त्र रहोगे। साक्षी ही वस्तुत: स्वतन्त्र है, वह न कुछ रोकता है, न किसी को बढ़ावा देता है वरन् सभी को उसकी तरफ से स्वतन्त्रता ही रहती है, उसका कैसा भी हस्तक्षेप होता ही नहीं है। जैसे सूर्य प्रकाश प्रदान करता है वैसे साक्षी ज्ञान उपलब्ध कराता है, उसका सदुपयोग-दुरुपयोग करें इसमें साक्षी तटस्थ रहता है। यही निरपेक्ष स्वतन्त्रता है। सम्यक् विज्ञानवान् योगी यही स्वातन्त्र्य अर्जित करता है।

योगी अर्थात् समाधिनिष्ठ। एक विचार से असंबद्ध अत: जड समाधि होती है, दूसरी बुद्धिमानों की वैचारिक समाधि है जो गम्भीर चिन्तन का निष्कर्ष है। चिन्तन करने के लिये एकाग्रता चाहिये, सूक्ष्म चिन्तन का प्रभाव एकाग्रता का गाम्भीर्य है। केवल वृत्तिशून्यता सम्यक् समाधि नहीं वरन् पूर्ण अनुभूति की स्थिरता, सर्वभाव का समुद्भव समाधि है क्योंकि सारे नाम-रूप-कर्म आत्मतत्त्व

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से सत्ता पाये ही हैं इसलिये सद्रूप आत्मा ही पूर्ण है। जैसे देखा-भाला आदमी हो तो भीड़भाड़ में भी यह नहीं होता कि उसकी बजाये किसी और को घर ले चलें वैसे श्रवणादि से निर्णीत तत्त्व की समाधि में उपलब्धि स्पष्ट होकर सफल होगी, अनिर्णीत रहते समाधि के अनुभव की सम्यक्ता का भरोसा नहीं क्योंकि समाधि में तो परीक्षा के उपकरण होंगे नहीं। समाधि में अनूभूयमान सत् है या असत्–यही निर्णय करें इसके लिये यहाँ उपाय ही नहीं है। निर्वृत्तिक अवस्था अज्ञाननिवृत्ति के बिना हुई तो परमार्थ साक्षात्कार नहीं कहलायेगी। जैसे सुषुप्ति से मोक्ष नहीं, वैसे समाधि से मोक्ष नहीं। श्रवणादि से निश्चय हो चुके फिर निर्वृत्तिकता से दृढता भले ही हो, 'समाधि' तो व्यवहार के दौरान भी रह जाती है। वह 'स्वात्मन्येवाऽखिलं स्थितम् ईक्षते' सबको स्वात्मा में ही स्थित, स्वात्मा से सत्ता-स्फूर्ति पाता जानता है। आत्मा की अधिष्ठानता पता चलने से सभी कुछ वहीं उपलब्ध समझ आता है। इसीलिये दृश्य प्रपंच बन्धनकारी नहीं रहता। विषय को भोग्यभाव तो भोक्ता ही दे रहा है अतः वह भोक्ता के ही अधीन है, भोक्ता विषय के अधीन तो केवल भ्रम से है! इसीलिये कहा है 'भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः' और ऐसे दृढ निश्चय वाले को सारा जगत् क्रीडा महसूस होती है। तभी अपनी वास्तविक अभोक्तृता के बल पर भोगाशाका बन्धन छूट जाता है।

श्रीराम दण्डकारण्य में थे तो विराध ने उन्हें नष्ट करने का प्रयास किया। राम-लक्ष्मण के अस्त्र-शस्त्र उसे घायल भले ही करते, वह मरता नहीं था, ऐसा उसे ब्रह्मा से वर प्राप्त था। अन्त में हाथों को तोड़कर रामजी उसकी गर्दन मरोड़ने लगे तो उसने कहा 'मैं पूर्व जन्म में कुम्बरु नामक गन्धर्व रम्भा पर आसक्त हुआ तो गन्धर्वराज ने शाप दिया जिससे यह जन्म मिला। यह समाप्त तभी होना है जब विष्णु नररूप धारण कर आयें। आप साक्षात् विष्णु हैं, मैंने पहचान लिया। मुझे गड्ढे में गाड़ दो तभी मरुँगा।' भगवान् ने उसकी गर्दन पर पैर रखा और लक्ष्मण से गड्ढा खुदवाया। असुर योनि में जो हो उसकी वृत्ति आसुरी ही होगी अतः भरोसे योग्य नहीं। उसे गाड़ दिया, उसके शाप की यही अवधि थी।

'राध' या आराधना करनी चाहिये परमात्मा की पर हम 'वि' अर्थात् उसे विपरीत करते हैं, अनात्म पदार्थों को पूजने वाले 'विराध' हैं। मन, शरीर, घर,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पत्नी, पुत्र सब कैसे ठीक हों–इसी के प्रयास में रहने वाला 'विराध' है। विराध के पिता का नाम 'जय' था : बाह्य अनात्मपदार्थों में जो चीज़ मिल जाये, जिसका जय हो जाये, उससे सुख के सैकड़ों प्रकार मन में आते हैं कि इसे यों भोग लें, यों भी भोग लें इत्यादि। इससे विराधभाव बढ़ता जाता है। सामर्थ्य क्षीण हो जाये पर कामना क्षीण नहीं होती। परमात्मरूप पाये बगैर इसे छोड़ना असम्भव है। अनात्म प्रपंच असीम है, चाहे जितना मिल जाये, और भी पाने योग्य अवश्य रह जायेगा, उसकी आराधना करने लगेंगे। कंगाल धन को, धनी राज्य को, राजा धरती को चाहता है, यह क्रम अन्यान्य लोकों की इच्छापर्यन्त हमेशा चलता रहता है। गंधर्व अर्थात् इच्छाशक्ति रम्भा में आसक्तिवश विराध बना। रम्भा केले को भी कहते हैं! केले के तने में दीखे चाहे जितनी स्थूलता, है निःसार, छीलते जायें तो कुछ नहीं निकलता; ऐसे ही इच्छा होती अनात्म जगत् की है जो निःसार है। एक के बाद दूसरी आशा सामने आती रहती है, सार कुछ निकलता नहीं। यह चक्र खत्म तभी होगा जब विष्णु नर बनें। विष्णु अर्थात् व्यापक तत्त्व जब नर अर्थात् प्रत्यग्भाव से रहे तब विराध नष्ट हो। जब तक राक्षसदृष्टि कार्य करती है तब तक जीव विष्णु को भी विषय बनाना चाहता है, यही राम को मारने का प्रयास है। जब इसमें अपनी असमर्थता समझ आये तभी व्यापकता स्वीकार होगी जिससे एक अद्वितीय रह जाने से कामना करे किसकी! शिव की ही अनन्त क्रीडा प्रतीत होती है। ज़मीन में गड़कर अर्थात् हृदय गुहा में प्रविष्ट होकर सर्वत्र आत्मा को देखना है, इसी से शाप से छुटकारा होगा, बन्धन मिटेगा। सारा भोग्य एकमात्र आत्मा से है, यह निश्चय जब नाम-रूप का आच्छादन कर दे तब जीवन्मुक्ति अर्थसिद्ध है जहाँ कामना, आशा नष्ट ही है।।४६।।

ज्ञानचक्षु से सारा जगत् ब्रह्म दीखता है जैसे निकट से देखें तो चित्र केवल रंगा कपड़ा दीखता है। जगत् की ब्रह्मता उपपन्न भी करते हैं—

आत्मैवेदं जगत् सर्वम् आत्मनोऽन्यद् न किञ्चन।
मृदो यथा घटादीनि स्वात्मानं सर्वमीक्षते।।४७।।

मिट्टी से जैसे घड़ा आदि अन्य (पृथक्) कुछ नहीं वैसे यह जगत् आत्मा ही है, आत्मा से अन्य कुछ नहीं (अतः विद्वान्) सब को स्वात्मा जानता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चित्र की वास्तविकता रंगयुक्त कपड़ा है लेकिन देखने-कहने में राम-लक्ष्मणादि ही आयेंगे, इसी तरह जगत् व्यवहार के योग्य रहेगा पर उसकी वास्तविकता आत्मा ही रहेगी। जैसे बर्त्तनों को मिट्टी कहें तो लगता विरोध है परन्तु विचार से समझ आता है कि वह सच्चाई ही है। व्यवहारस्तर पर एक आत्मरूपता नहीं भसेगी, ज्ञानदृष्टि से अवश्य वही सत्य प्रतीत होगा। यद्यपि बर्त्तनरूप से भी दीख तो मिट्टी ही रही है पर घड़ा दीखकर उसे मानो छिपा रहा है लेकिन जिसे पहचान है वह मिट्टी, शीशा, प्लास्टिक के बर्त्तनों में धोखा नहीं खायेगा, बर्त्तन देखते हुए ही मिट्टी भी देख लेगा। जो परीक्षापूर्वक समझ नहीं पाया वह धोखा खा जाता है। इसी प्रकार आत्मज्ञ तो जगद्-दशा में भी आत्मा ही है यह समझ लेता है, अज्ञानी को 'आत्मैवेदं जगत्' में विरोध प्रतीत होता है। समझने वाले की दृष्टि में जगत् देखते हुए ही वह आत्मा से भिन्न नहीं है। यह सार्वकालिक आत्मदृष्टि जीवन्मुक्त का लक्षण है।।४७।।

जीवन्मुक्त का ही वर्णन करते हैं—

जीवन् मुक्तस्तु तद्विद्वान् पूर्वोपाधिगुणांस्त्यजेत् ।
स सच्चिदादिधर्मत्वं भेजे भ्रमरकीटवत् ।।४८।।

अधिष्ठान आत्मतत्त्व का जानकार जो जीवित रहते मुक्त है वह ज्ञान से पूर्व स्वीकृत उपाधियों एवं उनके गुणों को छोड़ता हुआ सत्-चित् आदि आत्मधर्म पा जाता है जैसे भौंरा बनता कीड़ा।

[पद्मपादीयटीका में '....गुणान्परित्यजन्.....।**।....भेजे प्राप्नोति....' यह कहा है। मूल की किसी मुद्रित प्रति में 'भेजे' की जगह 'भजेत्' पाठ मिलता है।]

प्रसिद्ध है कि मिट्टी के घरौंदे में फँसाये कीड़े के चारों ओर भौंरा गूँजता रहता है जिससे डरा कीड़ा निरन्तर भौंरे का चिंतन करता हुआ कीटधर्म छोड़कर भौंरे के धर्मों वाला हो जाता है। इसे 'भ्रमरकीटन्याय' कहते हैं। जीव जब निरन्तर 'आत्मैवेदं सर्वम्' के चिन्तन-प्रवाह में रहेगा तब जीवधर्म, छूटकर ब्रह्मधर्म प्रकट हो जायेंगे। शरीर-मन आदि की विशेषताएँ स्वयं की समझना यह जीवधर्म है और सच्चिदानन्दपूर्ण प्रत्यग्भाव ब्रह्मधर्म है। धर्म को धर्मी से अन्य होना ही चाहिये यह आग्रह व्यर्थ है और आग्रह हो ही तो औपचारिक धर्मता समझनी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चाहिये। इसी प्रकार कीटधर्म व भ्रमरधर्म दोनों समान सत्ता वाले होते हैं जबकि जीवधर्म व्यावहारिकमात्र हैं यह अन्तर भी इस दृष्टान्त में याद रखना चाहिये। जीवन्मुक्त में सच्चिदानन्दादि स्वभाव से रहते हैं, प्रयत्न से नहीं।

श्रीरामचन्द्र की विशेषताओं पर ध्यान दें तो साधना की दृढता के कदम स्पष्ट होंगे। नारद जी ने वाल्मीकि महर्षि को राम जी का वर्णन सुनाते हुए कहा 'नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी' : उन्हें अपने शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण है। अन्यत्र नियन्त्रण तभी सम्भव है जब पहले स्वयं पर, अपनी उपाधियों पर नियंत्रण हो। इस कमी से ही हमारी बात घर में ही कोई नहीं मानता! ब्रह्मविद्या के मार्ग पर 'महावीर्य' ही चल सकता है, बुझदिल या भगौड़े से इस पर चला नहीं जायेगा। छोटी-सी चीज़ का नुकसान हो जाये तो चित्त इतना विचलित हो जाता है कि अनुष्ठान ही बीच में छूट जाता है तो वीर्य की कमी है; राम जी को युवराज पद मिलते-मिलते वनवास मिला फिर भी उनके चेहरे पर शिकन नहीं आयी! वे सदा 'वशी' रहे, कभी किसी व्यक्ति या परिस्थिति के वश में नहीं रहे। आगे नारद जी ने कहा 'बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमान् शत्रुनिबर्हणः'। बुद्धि अर्थात् निश्चय। 'आया राम गया राम' या बहाव के साथ बह जाने की पद्धति 'बुद्धि' नहीं क्योंकि इसमें अपना कोई सिद्धान्त या निश्चय नहीं होता। बुद्धि हठधर्मिता भी नहीं है! विवेक से बुद्धि होगी, अविचार से हठ होगा। बुद्धिमान् अपनी ग़लती समझ लेगा, हठी को खुद में गलती पता ही नहीं चलेगी। उचित कार्यों के निर्धारण के मापदण्ड 'नीति' हैं। तत्तत् परिस्थिति के हानि-लाभ देखकर इन मापदण्डों में हेरफेर न करे वह नीतिमान् है। उसके अनुयायी भी इसलिये निश्चिन्त रहकर नयी-नयी समस्याओं का समाधान कर पाते हैं। राज्य, संस्था, समाज आदि के निर्विघ्न संचालन में नीति का अत्यन्त महत्त्व है। श्रीराम 'वाग्मी' थे, अपनी बात श्रोता को हृदयंगम करा देते थे। अनावश्यक, आवश्यकता से अधिक, अविचारित शब्दावलि आदि कें प्रयोग से वक्ता अपनी बात का वज़न खो देता है। 'श्रीमान्' श्री, लक्ष्मी पर उनका नियन्त्रण था। 'शत्रुनिबर्हणः' शत्रु को पराभूत करने में सक्षम थे। अपनी ओर से किसी को शत्रु नहीं बनाते थे। विभीषण का तिलक किया तो उसे राज्य दिलाया भी, रावण को मारा लेकिन उसकी अन्त्येष्टि विधिवत् कराई जबकि विभीषग उसके पाप स्मरण कर उसे जलाना नहीं चाहता था, और यह भी उसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समझाकर कि वैर मरण तक ही होता है, बाद में नहीं। विभीषण को 'लंकेश' कहा तो किसी ने पूछ लिया 'अगर रावण माफी माँग ले तो इसे लंका का राज्य कैसे दिलाओगे?' भगवान् ने कहा 'लंका का तो राज्य इसे ही दिलाऊँगा, रावण क्षमा माँगे तो उसे अयोध्या का राज्य दे दूँगा! लंकेश तो विभीषण ही रहेगा।' यह अपनी बात की स्थिरता अत्यन्त त्याग-तपस्या का प्रभाव है। 'धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः'। उन्हें धर्म की सही समझ रही। आज सब तरह के पापों में रत लोग श्रीराम के कार्यों की आलोचना करते हैं कि उन्होंने अमुक-अमुक गलती, अन्याय, अत्याचार किये! जो स्वयं न धर्म जाने, न पालन करें, वह धर्मज्ञ मर्यादापुरुषोत्तम के कार्यों को ठीक-गलत कहे इससे ज्यादा शर्मनाक क्या होगा! वे राजा थे, प्रजा के हित में संलग्न थे। दस लोग ताली बजा दें तो वैसा कर दें, यह उनका तरीका नहीं था। जनता की इच्छा का अनुसरण नेता का कार्य नहीं वरन् जनहित को विचारपूर्वक निर्धारित कर जनता से उसका अनुसरण कराये यह उसका कार्य है। श्रोता जो सुनना चाहे वह सुनाना 'गुरु' का कार्य नहीं, शिष्य का जिसमें हित हो वह उसे सुनाये यह उसका कार्य है। 'यशस्वी' उनकी कीर्ति पुण्यनिमित्तक अतः स्थायी है। केवल नाम कमा लेना यश नहीं, वह तो जल्दी भुला भी दिया जाता है, पुण्य के मानदण्ड बनने से जो कीर्ति वह यश है। रामजी का बल विष्णु-सा और देखते ही प्रसन्न करने वाले चन्द्रमा जैसे थे। आवश्यकता पड़े तो उनका क्रोध कालाग्नि, प्रलयाग्नि के समान था। किन्तु क्षमा, सहनशीलता में वे पृथ्वी जैसे रहे।

भगवान् ने अपने चरित्र में उन विशेषताओं को प्रकट किया जिन्हें जीवन में विकसित करें तो उत्तरोत्तर साधना में प्रगति होगी और जीवन्मुक्ति का आनन्द ले सकेंगे। जीवन्मुक्त में ये गुण स्वभाव बनकर रहते हैं। उसे विषय-विषयी सर्वत्र सच्चिदानन्द को ग्रहण करना सहज लगता है, नाम-रूप तो प्रारब्धवश ग्रहण करना पड़े तभी करता है। इसीलिये कहा कि पूर्व में, अज्ञावस्था में जिन भी उपाधियों के गुण सत्तत्त्व पर और प्रत्यक्तत्त्व पर स्वीकारता रहा, अब उन सब को छोड़ता है, विषयों में छोड़कर सत् ग्रहण करता है, विषयी में छोड़कर प्रत्यक् ग्रहण करता है।।४८।।

आत्मा ही राम है अतः राम के अनुसरण से आत्मलाभ होना उचित है। ऐसे आत्माराम का वर्णन करते हैं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादिराक्षसान्।
योगी शान्तिसमायुक्त आत्मारामो विराजते॥४९॥

मोह-समुद्र पारकर, राग-द्वेष आदि राक्षस मार कर योगी शान्ति से सम्पन्न हुआ आत्मा में ही रमण करते हुए विराजता है।

समुद्र पर सेतु बनाकर कोई सेना लंका पहुँच जायेगी यह कल्पना भी रावण को नहीं थी पर श्रीराम ने ऐसा असंभव कार्य किया। मोह भी ऐसा ही समुद्र है जो लगता नहीं कि पार किया जा सके लेकिन प्रयासशील साधक कर लेता है। परमपवित्र भगवान् शंकर की स्थापना की तब सेतु बना, तभी समुद्र लाँघा गया। साधक परमात्मा का चिन्तन करता रहे तो सगुण के वे उत्तम गुण साधक में भी बसने लगते हैं। सगुण की उपासना अज्ञानसमुद्र लाँघने में समर्थ बनाती है। मोह तो विवेक से दूर होता है पर विवेक कर तभी सकते हैं जब परमात्मा की कृपा हो। रावण-कुम्भकर्ण-विभीषण तीन भाई थे पर विभीषण भगवान् की तरफ रहा। साधना में लड़ाई रजोगुण-तमोगुण से है, सत्त्वगुण तो जीवन्मुक्ति में भी साथ देगा। विवेक न करने तक सत्त्व अर्थात् ज्ञान भी रजस्तमोगुणरूप संसार का ही साथ दे रहा है। बाकी राक्षस तो साथी थे, प्रधान रावण-कुम्भकर्ण ही थे जिन्हें यहाँ राग-द्वेष से कहा, बाकी सब 'आदि' में आ गये, मारना सभी को है। 'हम तुम्हारी रक्षा करेंगे' यह आश्वासन देकर बली बनें फिर कष्ट देने लगें वें राक्षस हैं। राग-द्वेष भी पहले कहते हैं कि संसार की उचित व्यवस्था में साथ निभायेंगे, उसे प्रभावी बनायेंगे, लेकिन उन्हें बली बनने दिया तो क्लेश ही देते रहते हैं। इन बड़े राक्षसों को मारने के लिये परमेश्वरकृपा आवश्यक है। रावण के भी सिर कट-कट कर नये आ जाते थे। राम जी ने सूर्यदेव से प्रार्थना की तब अगस्त्य मुनि ने आकर उपदेश दिया, तदनन्तर ही, रावण वध सम्भव हुआ। ईश्वरोपासना प्रारम्भ में ही नहीं, लगातार चाहिये। प्रारम्भ में तो रावण ने भी शिवाराधना ही की थी पर बल पाकर परमात्मा ही पूज्य है यह निश्चय नहीं रख सका इसीलिये मारा गया।

'योगी शान्तिसमायुक्तः' योग का अभ्यासी शान्ति से सम्पन्न होगा। श्रीराम ने भी राक्षसों को मारकर शान्तिरूप सीता को प्राप्त किया क्योंकि जंगल से उसी का अपहरण हुआ था। संसार में शान्ति नहीं, अतः सुख भी नहीं, इसके लिये राक्षस हत्याकर शान्ति ही उपलब्ध करनी है। भेददृष्टि, नानात्व-निश्चय भय ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देता है। शास्त्र ने स्पष्ट कहा है 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। संस्था में सदस्यों का हृदय से परस्पर भेद हो तो सभी भयभीत रहते हैं, सबके हृदय मिलें तो प्रसन्न रहते हैं। राजनैतिक दलों के नेता सदस्यों से भय खाते हैं क्योंकि उन्हें दूसरा समझते हैं। गाँधी जी सभी को एकजुट करना जानते थे, सभी को अपना समझते थे, सब भी उन्हें अपना समझते थे अतः वे निर्भीक नेतृत्व देते रहे। अभय का हेतु अभेद है, उसी से शान्ति है। सीतारूप शान्ति से युक्त तभी होगे जब द्वितीय का भाव छोड़ोगे। द्वितीय-भाव को नये द्वितीयभाव से नहीं हटा सकते। चार वर्णों का भेद हटाने के नाम पर धनिक वर्गों का नया 'भेदभाव' पैदा भले ही करो पर भेदभाव ऐसे नहीं हटेगा वरन् अभेदबोध से ही हटेगा। भेद चाहे प्रान्तों से, चाहे धन से, चाहे संख्या से बाँटो पर रहेगा भेद ही अतः भय, अशान्ति ही देगा। राग-द्वेष-मोह मारे जाने पर ही शांति मिलती है। विवेक-वैराग्य-शमादि ही काफी नहीं, आत्मज्ञान चाहिये। रामजी को भी ब्रह्मा जी ने समझाया तब उन्होंने अपना ओढा मनुष्यभाव छोड़कर स्वाभाविक नारायणभाव स्वीकारा। उपदेश से पूर्व तो रामजी ने कहा 'आत्मानं मानुषं मन्ये जातं दशरथात्मजम्।' ब्रह्माजी ने उपदेश दिया 'भवान् नारायणो देवः', आप साक्षात् नारायण हैं। इसी तरह गुरू उपदेश देता है 'तत्त्वमसि'। नरों का समूह नार, उसका अयन, अधिष्ठान चिदात्मा है। वही संसार-चक्र चलाने वाला नारायण राम है। सर्वत्र उसी की उपस्थिति से सत्ता-चित्ता की उपस्थिति है। मनुष्य शरीर में आया है रावण के वध के लिये। जीवरूप से परमेश्वर ने प्रवेश किया ही मोहरूप समुद्र पारकर रावण के वध के लिये है। परमात्मतत्त्व समझने पर ही शान्ति-सीता प्राप्त होगी।।४९।।

आत्माराम जीवन्मुक्त का ही और लक्षण बताते हैं—

बाह्याऽनित्यसुखासक्तिं हित्वात्मसुखनिर्वृतः ।
घटस्थदीपवच्छश्वद् अन्तरेव प्रकाशते ।।५०।।

बाहरी इन्द्रियों से उत्पन्न अनित्य सुखों की वासना छोड़कर आत्मरूप सुख में वर्तमान रहता आत्मानुभव घड़े में रखे दीपक की तरह भीतर ही प्रकाशमान रहता है (अन्यों को पता नहीं चलता)।

अनित्य पदार्थों की उपलब्धि बाहरी इन्द्रियों से होती है। सब ज्ञानों के लिये जरूरी कारणों को 'साधारण' कहते हैं, खास ज्ञान के ही लिये जरूरी कारण को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'असाधारण' कहते हैं जिसके लिये 'करण' शब्द प्रचलित है। आत्मा-मन आदि की ज़रूरत सब ज्ञानों के लिये लेकिन रूपज्ञान के लिये आँख असाधारण है। ज़मीन, चलना, शरीर आदि गिरने के प्रति साधारण कारण हैं, केले के छिलके पर पैर पड़ना असाधारण कारण है। ज्ञान एवं कर्म के असाधारण कारण इन्द्रियाँ हैं जो बाह्य-अन्तःभेद से दो तरह की। आँख, कान, हाथ, जीभ आदि बाह्येन्द्रियाँ हैं, मन अन्तरिन्द्रिय है। बाहरी चीजों से साक्षाद् व्यवहार बाह्येन्द्रियों से होता है, वे ही बाहरी वस्तुओं को भीतर लाती है अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों का आकार मन में लाती हैं, कर्मेन्द्रियाँ क्रिया का संस्कार चित्त में डालती हैं। वस्तु अनुपस्थित रहते स्मृति आदि से सुखादि होता है इसमें मन ही असाधारण समझना चाहिये। कल्पनारूप क्रिया में भी वही असाधारण है। अन्तःकरण के मन आदि सभी भेद भीतर के ही विषयों से व्यवहार करते हैं। बाह्य इन्द्रियों का विषय-सम्बन्धं अनित्य ही होगा क्योंकि विषय अनित्य हैं एवं इन्द्रिय श्रान्त होकर, थककर सम्बन्ध तोड़ देती हैं। अच्छा लगता रसगुल्ला भी पच्चीस खा लो तो जीभ, आगे खाने से मना करती है! इसलिये विषय-इन्द्रिय-सम्बन्ध से होता सुख अन्त में दुःख ही देता है, 'दुःखयोनय एव'। संसार के विषय दुःख ही देंगे। अतः नियम है कि बाह्य सुख अनित्य ही होगा। इससे विपरीत आत्मा नित्य है। बाह्य सुख में आसक्ति रखने से आत्मा प्रसन्न रह नहीं सकता। जो उस आसक्ति को छोड़ देगा वही 'आत्मसुख-निर्वृतः' नित्य आत्मा के स्वरूपभूत सुख में डूबा रहेगा। आत्मसुख ग्रहण न कर बाहरी सुख के प्रति लालायित रहने में हेतु है विषयों में, विषयसम्बन्धों में शोभनाध्यास, 'यह प्रिय है' ऐसा भ्रांत निश्चय। पदार्थ, उससे सम्बन्ध से सुख की सम्भावना को शोभन बुद्धि कहते हैं। विषय का धर्म शोभनता नहीं; जैसे लाल, पीला आदि होना पदार्थ-निष्ठ वैसे शोभनता नहीं; किसी को कुछ शोभन लगे, दूसरे को वह अशोभन लगे यह सम्भव है। हम ही पदार्थों पर शोभनता चढ़ा देते हैं अतः इस बुद्धि को 'अध्यास' (भ्रम) कहा। बाहरी चीज़ों से सुख मिला, आगे भी मिलेगा—यह ऐसे शोभनाध्यास का रूप है।

'हित्वा' ऐसी आसक्ति का त्याग करें तो नित्य आत्मसुख बना रहे लेकिन इसे छोड़ें कैसे? विचारकों ने उपाय बताया है कि विषय से जितना सुख सम्भावित उससे अधिक दुःख का वह उपाय है यह निश्चय करें तो शोभनबुद्धि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दुर्बल होती जाती है। 'बलवत्तर-अनिष्ट-साधनता का निश्चय' विषयासक्ति को घटाता जाता है। प्रिय प्रतीत होते रसगुल्ले के बारे में पता चले कि जहरीला है तो उसे फैंकते ही हैं, चखते तक नहीं। खाने में मीठा लगकर जितना सुख देगा उससे अधिक दु:ख उसका जहरीलापन देगा यह जानने पर उससे आसक्ति दूर होती है। अत: भगवान् ने कहा कि सभी बाह्य विषयों में जन्म-मृत्त्यु-जरा-व्याधि-दु:खदोषों को देखो। संसार के विषयों की कामना मन में रखकर मरने वाले का ही जन्म होता है। एक हरिण के बच्चे के प्रति ही आसक्ति रह गयी, इतने से भी भरत को जन्म लेना पड़ा। विषय की आसक्ति जन्म देगी ही इसलिये इसे छोड़ना है। जन्म से तो दु:खों की शुरुआत ही हो जाती है, बालकपन हो या जवानी या बुढ़ापा, सबके अपने-अपने दु:ख प्रसिद्ध हैं। जन्म की पूर्ति होगी मृत्यु में ही, जीवन में बटोरा सभी कुछ एक झटके में छिन जाता है। जो साथ जायेंगे नहीं उन विषयों के लिये ही सारा परिश्रम किया जाता है! यह विडम्बना ही है। इस तरह के विचार से आसक्ति के प्रति अनिष्टसाधनता का निश्चय हो जाता है। विषयासक्ति छोड़ने पर विषय-सुख भी लिया नहीं जाता।

तभी 'आत्मसुखनिर्वृत:' सबसे आन्तरिक प्रत्यग्रूप सुख स्थिर रहकर तृप्त रख सकता है। आत्मा एकरस नित्य है अत: हमेशा एक-सा सुख रहता है। किन्तु आत्मसुख ग्रहण करना सीखना पड़ता है। साहित्य, संगीत आदि लौकिक भी विषय सीखें तभी उनका सुख लिया जा पाता है तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म पारमार्थिक आत्मतत्त्व के सुखास्वादनार्थ योग्यता और शिक्षा एवं अभ्यास चाहिये इसमें क्या आश्चर्य! योग्य जब सीखकर अभ्यस्त हो जाये तब सदा उसी आत्मारामता में निमग्न रहता है। अन्त:सुख मन से होगा पर सात्त्विकादि चाहे-जैसे विषय का सुख हो या आत्मसुख, दोनों में निमित्त बनने से मन साधारण ही कारण रह जाता है, आत्मसुख ग्रहण करने के लिये विशेष या असाधारण कारण तो विवेक है। शास्त्रदृष्टि प्रतिष्ठित हो जाये तो विलक्षण मन:स्थिति हो जाती है। रुद्रीय में 'स्तेनानां पतये नम:' सब बोलते हैं पर जिसे जँच भी जाये उसका व्यवहार कैसा होता है यह अप्पयदीक्षित के जीवन में मिलता है :

तमिलनाडु में प्रतिष्ठित 'दीक्षित' कुल में उत्पन्न 'अप्पय' अप्रतिम विद्वान् होने के साथ भगवान् शंकर के अनन्य भक्त थे। उन्होंने एक सौ आठ ग्रन्थ रचे और हरेक की पूर्ति होने पर उनके आश्रयदाता राजा उनका 'कनकाभिषेक' करते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

थे जिस स्वर्ण से अप्पय उन्हीं गाँवों में पाठशालायें स्थापित कर देते थे। एक बार ऐसा ही कनकाभिषेक होने के बाद उनके घर चोर घुस आये। उनके पास तिजोरी तो थी नहीं, बोरों में भरकर वहीं रखते थे जहाँ सूखे कण्डे (गोबर) रखे रहते थे। उस दिन प्रदोष था तो शाम को सब शिष्यों सहित अप्पय ने शिवपूजन किया। राजोपचार के निमित्त गीत-नृत्य भी समर्पित किये गये। यह सब होते रात के ग्यारह बज गये। तदनन्तर अप्पय तो ध्यान में बैठे, शिष्यादि सब घर चले गये। दीक्षित की पत्नी ने किवाड़ भिड़ाये लेकिन भीड़ में से चोर चुपचाप घर में घुसे रह गये। कुछ समय बीता तो वे धन ढूँढने लगे पर कहीं मिला नहीं, दो-चार बोरों में गोबर देख उधर और देखा भी नहीं, परेशान होकर जाने लगे तो खटर-पटर होने से अप्पय की आँख खुल गयी, पूछा 'कौन हो?' वे बोले 'देख लो, कुछ नहीं चुराया। ऐसे ही आ गये थे।' अप्पय ने कहा 'कोई बात नहीं हम देते हैं, एक बोरा उठा ले जाओ।' चोरों ने कहा 'गोबर लेकर क्या करेंगे!' दीक्षित ने कहा 'जब मेहमान बनकर आये हो तो बिना कुछ लिये मत जाओ, भोजन करके जाओ।' पत्नी को जगाकर उन्हें भोजन कराया, साथ ग्यारह-ग्यारह अशर्फी दक्षिणा में दी! जब शिव स्तेनपति है तो कभी उस रूप में भी दर्शन दे ही सकता है, चोर बनकर भी आता है। अप्पय ने सोचा था कि धन नहीं अतिथि सुख का कारण है, अतिथिसेवा सुख देगी। इसी प्रकार बाह्य सुख में आसक्ति छूटने पर आत्मसुख का आस्वादन सहज हो जाता है जो बाह्यासक्ति वाले को समझ नहीं आता।

अप्पय की तरह जीवमात्र को 'कनक' मिलता है। हमें कनक अर्थात् स्वर्ण आदि धन और उससे 'कनक' अर्थात् धत्तूरे का असरभूत नशा, दोनों मिलते हैं। और नहीं तो भी अहंकार का मद तो जीव में है ही। जैसे अप्पय विद्यालय बनाते रहे ऐसे धन समष्टि के उपयोग में लगाते रहोगे तो नशा नहीं होगा। समष्टि-कल्याण के प्रयास में धनविनियोग मद से बचने का उपाय है। यदि अपने या व्यष्टि के लिये ही उपयोग करते रहे तो बन्धन ही दृढ होगा। व्यवहार बिना अहंकार वृत्ति के नहीं पर सुख के लिये आत्मा की तरफ ही देखो, बाहरी दृष्टि हो तो केवल दूसरों के कल्याण के लिये प्रयास करो। अहंवृत्ति जड होने से सूखे गोबर की तरह है अतः उसे विषयजाति का ही समझो। चोरों की जगह प्रारब्धभोग है जिससे जीवन्मुक्त डरता नहीं वरन् अतिथि जैसे उसकी सेवा करता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। साक्षात् भगवान् ही पुण्य-पापानुसार सुख-दुःख भेजते हैं जो हमारे अतिथि हैं। जैसे अतिथि तुम्हारे घर बस नहीं जाता वैसे सुख या दुःख भी बसेंगे नहीं, आये हैं, सत्कार करो, चले ही जायेंगे। घर में बसा तो शिव है! घड़े में रखे दिये जैसा शिव ही भीतर प्रकाशमान है। बाहर न निकलने पर भी अन्दर तो सच्चिदानन्द है ही। उसका निरन्तर भान रहना जीवन्मुक्त का लक्षण है।।५०।।

जीवन्मुक्त का ही बर्ताव कैसा हो यह समझाते हैं—

उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैर्न लिप्तो व्योमवन्मुनिः।
सर्वविद् मूढवत् तिष्ठेद् असक्तो वायुवच्चरेत्।।५१।।

उपाधि में स्थित भी मुनि उससे वैसे ही लिप्त न होवे जैसे आकाश नहीं होता। सब समझता-जानता हुआ भी मूढ-सा रहे और वायु जैसे सक्तिरहित विचरण करे।

घड़े में रखे दिये की रोशनी बाहर निकले भी तो भीतर कम नहीं होती, बाहर न निकले तो भीतर ज्यादा नहीं होती, इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता का आत्मानन्द, आत्मबोध पूर्ण रहता है भले ही प्रारब्ध भोगकाल में रूप-रस आदि भी ग्रहण कर लेता है। अज्ञान मिट गया तो आनन्दघन शिव नित्य अपरोक्ष ही है। उसी वस्तुस्थिति में प्रतिष्ठित रहने के कारण विद्वान् को उपाधिलेप, आसक्ति होना सम्भव नहीं। पारा-भरे बर्त्तन में अंगुलि डुबाकर निकालो तो थोड़ा भी पारा अंगुलि पर चिपकता नहीं जैसे तेल चिपकता है। डूबी अंगुलि तो चारों ओर पारे से घिरी वैसी ही है जैसे तेल से। निकालने पर पता चलता है कि पारा निर्लिप्त है, तेल लिप्त है। विद्वान् भी कान-आँख के प्रयोग के समय श्रोता द्रष्टा आदि बना मिलता है पर प्रयोग छोड़ते ही स्वयं को श्रोतृत्व-दृष्टृत्वादि वाला नहीं समझता, अपनी निरन्तर साक्षिरूपता ही स्थिर रखता है। यही मुनि का 'मौन' है। कार्य समाप्त होने पर भी उसकी छाप नहीं रहती। जैसे आकाश में पानी, आग भले ही रहें, आकाश गीला या गर्म नहीं होता वैसे मुनि अस्पृष्ट रहता है। व्योम, आकाश का दृष्टान्त आत्मा की असंगता समझने में अतिसटीक है। विद्वान् के शरीरादि से सम्पन्न होते क्रियाकलापों का दृष्ट की तरह अदृष्ट फल नहीं होता क्योंकि उसमें ज्ञान, तत्कृत अलेप, प्रतिबंधक या रुकावट डाल देता है। कर्म का अदृष्ट फल शास्त्रसिद्ध अतः ज्ञानी को फल नहीं यह भी शास्त्रसिद्ध है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साभिमान की सफलता, निरभिमान की फलरहितता – यह व्यवस्था स्वीकार है। 'मैं अकर्त्ता हूँ' के निश्चय का अनुवर्तन ही फलोत्पत्ति को रोक देता है। कर्म-फल-सम्बन्ध जैसे वस्तुस्थिति वैसे ज्ञानी का फल-असम्बन्ध भी वस्तुस्थिति है जिसे शास्त्र बता देता है। शास्त्र सत्य का बोध कराता है, ज्ञापक है। ऐसा नहीं कि शास्त्र के कहने से कोई सामर्थ्य आदि बन जाती हो अर्थात् शास्त्र कारक, अनुपस्थित वस्तु, शक्ति को बनाने वाला, नहीं है। मीमांसक शास्त्र को प्रेरक कहता है अर्थात् वह 'करा लेता है'! उसके अनुसार अधिकारी को प्रवृत्त या निवृत्त करना वेद का काम है, विधि तुम्हें किसी काम में लगाने के लिये तथा निषेध तुम्हें किसी काम से रोकने के लिये है ऐसा उनका तात्पर्य है। ज्ञानकाण्डी वेदान्ती इस मान्यता को अनुभवविरुद्ध पाता है, जानने-समझने वाले आस्तिक भी पुण्य से बचते और पाप करते पाये ही जाते हैं तो शास्त्र हठात् उनसे कुछ कराता हो या उन्हें रोकता हो यह नहीं कह सकते। शास्त्र उचित-अनुचित बता-समझा देता है, करना-न-करना जीव के हाथ है।

एक राजा विधिवत् जीवन व्यतीत करता था। सनातन धर्मी के जीवन में सोलह प्रधान संस्कार होते हैं। इनमें गर्भाधान भी एक शास्त्रीय संस्कार है। पुत्रोत्पत्ति आज प्रायः यदृच्छा ('चाँस') से हो जाती है किन्तु शास्त्र में इसके मुहूर्त्त और पद्धति हैं। विविध विद्यावान् पुत्र या कन्या के उत्पादन के लिये उचित ढंग बताया गया है। आधुनिकों ने प्रयोग से भी पाया है कि अमावास्या से एक दिन पहले हुए गर्भाधान वाले बच्चों में पागल ज्यादा हुआ करते हैं। राजा सब कार्य पुरोहितों से समझ-बूझकर यथाविधि करता था। एक बार रानी-पुरोहिताइन की बात-चीत चल रही थी, रानी ने कहा 'पंडित जी गर्भाधान का मुहूर्त्त बहुत लम्बे समय बाद निकालते हैं, उन्हें समझाओ कि कुछ मामलों में ढील रखा करें।' धर्म की मर्यादा ही ऐसी है कि मनुष्य उसमें परिवर्त्तन कैसे करे? लोकसभा पारित कर दे कि 'आज से बिजली झटका न मारे' तो क्या बिजली ऐसी हो जायेगी? इसी प्रकार कर्म की पुण्य या पाप देने की शक्ति जैसी है वैसी रहती है, उसे शास्त्र ने बता दिया। कोई मन ही मन उसे उलटे-पलटे इससे वह शक्ति बदल कैसे जायेगी! रानी की बात सुनकर पुरोहित-पत्नी बोली 'हम पर तो न एकादशी का बन्धन न अमावस्या का, आप लोगों पर ही रहता होगा!' रानी को अचम्भा हुआ, राजा से कहा, राजा ने पण्डित जी से पूछा 'ये मुहूर्त्त क्या हमारे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही लिये होते हैं या आपके भी लिये?' पुरोहित समझ गये कि कल पुरोहिताइन से रानी की बात-चीत में कोई चर्चा हुई होगी। पंडित जी बोले 'राजन्! बाद में जवाब दूँगा, पहले ज़रा राजकुमार को बुलाओ।' राजा ने खबर भेजी, कुमार आया, सब को अभिवादन किया, राजा व पुरोहित के चरणस्पर्श किये, हाथ जोड़कर पूछा 'क्या आज्ञा है?' पंडित जी ने कहा 'थोड़ी देर में बतायेंगे, बैठिये।' राजपुरुषों से कहा 'मेरे लड़के को बुला लाओ।' सिपाही गया, लड़का गुल्ली-डंडा खेल रहा था, कहला भेजा 'अभी नहीं आऊँगा, पिदाई बाकी है।' पुरोहित ने कहा 'पकड़ लाओ उसे।' सिपाही लाया; लड़का धूल से भरा था, आँखों में गीड़ (मैल) थी, न प्रणाम किया न अभिवादन, अकड़ा खड़ा हो गया, पूछा 'क्यों बुलाया?' पंडितजी ने राजा से कहा 'राजन्! कुमार मुहूर्त्त वाला है, मेरा लड़का बिना मुहूर्त्त का है। सोचो, भावी शासक ऐसा हुआ तो राज्य का क्या होगा!'

ज्योतिषी को मुहूर्त्त का ज्ञान तो है ही। यदि शास्त्र प्रवृत्त करता तो उससे भी नियंत्रित प्रवृत्ति करा लेता। अतः धर्म हो, ज्योतिष हो या अन्य हो, शास्त्र केवल ज्ञान कराता है। कर्म-सामर्थ्य का बोध विधि-निषेध शास्त्र से हो जाता है। प्रवृत्ति-निवृत्ति शास्त्र से नहीं, कामना से होती है। जब 'मैं अकर्ता, अभोक्ता' समझ लिया तो कामना निवृत्त होने से प्रवृत्ति-निवृत्ति समाप्त होती है, शास्त्र यथावत् प्रमाण रहता है। स्वरूप से अकर्तादि होने के कारण ज्ञान हो या न हो, आत्मा ऐसा ही है फिर भी कर्तृत्व का अभिमान रखने से वैसी ही प्रतीति हो जाती है, वैसा ही हेतु-फलभाव जँच जाता है। 'अकर्त्ता हूँ' इस अज्ञान से यह व्यवस्था प्रतिबद्ध हो जाती है। अभिमान ही कर्म-फलचक्र चला रहा है अतः अभिमान हटना ही उसे रोक भी देता है। पूर्व कर्मों में अभिमान न रहने से उनका फल नहीं मिलता, ज्ञानोत्तर कर्मों में अभिमान होता ही नहीं तो उनका भी नहीं मिलता, यों सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं। यदि प्रश्न हो कि आखिर उन पूर्व-पर कर्मों के फलों का होगा क्या, तो श्रुति में उत्तर दिया है 'तस्य पुत्रा दायम् उपयन्ति, सुहृदः साधुकृत्यां, द्विषन्तः पापकृत्याम्' कि जैसे विद्वान् की ऐहिक सम्पत्ति पुत्र प्राप्त करते हैं वैसे उसके साथ सौहार्द रखने वाले उसके पुण्य और उसके द्वेषी उसके पाप ग्रहण कर लेते हैं। गुरुसेवापूर्वक श्रवण, समाधि आदि अनेक पुण्य विद्वान् की सामान्य चर्या में होते हैं तथा व्यवहार में अनिवार्य पाप

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी हो जाते हैं अतः ज्ञानानन्तर क्रियाकलाप के फलों की व्यवस्था उक्त ढंग से संगत की गयी है।

राजा भद्राश्व ने एक बार महर्षि अगस्त्य से पूछा 'आपको ऐसी अपार शक्ति कैसे प्राप्त हुई?' उन्होंने सुनाया : 'मैं श्रेष्ठ तपस्वी खोजता हुआ इलावृत देश पहुँचा। वहाँ किसी कुटिया के बाहर एक तपस्वी ध्यानमग्न थे। वे इतने घोर तपस्वी थे कि उनकी देह पर मांस बचा ही नहीं था, हड्डियों पर चमड़ी रह गयी थी! मैंने नमस्कार किया, उन्होंने आँखें खोलीं, मेरा स्वागत करने को उठने लगे तो मैं बोला 'महर्षि, आप तपस्या में लीन हैं, मेरा, आतिथ्य क्या करेंगे!' वे उठकर मुझे कुटिया में ले गये। एक बार 'हुं' कहा तो पाँच कन्यायें जमीन से प्रकट हुईं, एक ने सोने का आसन बिछाया, दो ने जल डाला, दो ने पँखे झले, विधि-विधान से मेरे पैर धोये गये। स्नान की तैयारी होने लगी। मैं नदी की तरफ जाने को हुआ तो तपस्वी ने कहा 'कोई जरूरत नहीं।' फिर 'हुं' किया तो स्वर्ण की द्रोणी (नहाने के लिये बड़ा तसला) प्रकट हुई जिसमें बैठाकर सैकड़ों सोने के कलशों से मुझे स्नान कराया। मुझे आश्चर्य हुआ कि इतनी छोटी द्रोणी में इतना पानी कैसे समा गया! लगा डूब जाऊँगा तो घबराकर बाहर निकला। वहाँ कोई दूसरा ही लोक दीखा जहाँ हीरे-पन्ने के फल थे! देवी-देवता आनन्दमग्न दीख रहे थे। मैं अचम्भे में पड़ गया कि कहाँ आ गया। घूमते-फिरते फिर वही नदी दिखी, उसमें गोता लगाकर निकला तो देखा वहाँ तपस्वी खड़े थे। मैं ने पूछा 'आप कौन हैं?' वे बोले 'अहं नारायणो देवो जलरूपी सनातनः'। बदरी क्षेत्र में नित्य तपोरत नारायण ही मैं हूँ। नारायण जल के देवता हैं। उन्होंने कहा 'तुमने सात जन्मों तक मेरी सेवा की है, उसका तुम्हें यह फल दिया।' उस विलक्षण अनुभव के बाद संसार के किसी पदार्थ के प्रति मेरी कोई भावना नहीं रह गयी। उस दिव्य ज्ञान की ही महिमा से मेरी यह शक्ति है।'

अश्व अर्थात् इन्द्रियों से भद्र अर्थात् शुभ करे तभी भद्राश्व जीव अगस्त्य अर्थात् महर्षि के पास जाये। शुभ कर्म किये बगैर परमात्मचर्चा सुनने की इच्छा ही नहीं होती। हृदय में परमात्मज्ञान की इच्छा होना चिह्न है कि आवश्यक शुभ कर्म कर लिये गये। कर्म से 'कषाय' अर्थात् रागादि क्षीण हों तभी मन ज्ञान में रुचि लेगा। बिना इस तैयारी के तो कहीं सुनने को मिलेगा भी तो जो विवक्षित नहीं वही अर्थ समझ बैठोगे! भद्राश्व साधक अगस्त्य ज्ञानी से उसके परमानन्द

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में रहने का हेतु पूछता है तो वे समझाते हैं : सबसे बड़ी तपस्या खोजते हुए ऐसा तपस्वी मिला जिसने देहाभिमान छोड़ रखा था। शरीर को मांस ही सुन्दर बनाता है, हड्डियों का ढाँचा तो सबका प्रायः एक-सा है, मांस ही व्यवस्थित रहते शरीर को गठन देता है। शरीराभिमान छोड़ अब प्रारब्ध का अवशेष ही रहता है, चमड़ी ही बचती है। उसकी हुंकार से कन्याओं की तरह ज्ञानी के 'हूँ' से उसकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ व्यवहार कर लेती हैं। शिष्यकल्याण के लिये डूबने जितनी द्रोणी प्रकट होती है अर्थात् परमात्मा का सौंदर्य गुरु यों प्रकट करता है कि शिष्य का मन उसमें डूब जाये। केवल 'नेति नेति' का उपदेश प्रारम्भिक साधक को सन्तुष्ट नहीं करता अतः शास्त्र ने भी सर्वशक्तिमान् सर्वस्रष्टा आदि संसारसंदर्भ में परमात्मा का वर्णन किया। अगस्त्य को जैसे हीरे-पन्ने के फल लटकते मिले ऐसे ही 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के अभ्यास से सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होता है। इस सर्वरूपता को दिखाकर प्रधान उपदेश दिया 'अहं नारायणो देवः', मैं-पदार्थ व नारायण-पदार्थ में भेद नहीं। विवेक, वैराग्य, शम-दम, श्रवण, मनन, निदिध्यासन—ये सात जन्म हैं जिनमें सेवा करने से तत्त्वसाक्षात्कार उपलब्ध होगा। यही भीतर पूर्ण शांति स्थिर रखता है।।५१।।

तत्त्वनिष्ठ प्रारब्धक्षय तक इसी तरह व्यवहार करता है। देहादि-उपाधि में साक्षीरूप से रहता भी मुनि उपाधि की विशेषताओं से आकाश की तरह निर्लेप रहता है, सर्वज्ञ होता हुआ भी मूढ-सा रहता है तथा अनासक्त हो वायु जैसे विचरण करता है।

आत्मसाक्षात्कार के बाद शरीरादि में अपनी उपस्थिति साक्षी के स्तर की रहती है, प्रमाता-स्तर की नहीं अर्थात् तादात्म्यानुभूति नहीं होती। इसीलिये उपाधि के धर्म अर्थात् गुण-दोषों से लेप अर्थात् साक्षात् सम्बन्ध वाला नहीं होता। वस्तुस्थिति हमेशा सबकी वही है लेकिन तादात्म्याध्यास से अज्ञानी स्वयं को उपाधि व उसके धर्मों से वस्तुतः सम्बद्ध अनुभव करता है जबकि ज्ञानी ऐसा नहीं करता। इसीलिये बुद्धिधर्म सर्वज्ञता से भी निर्लेप रहकर लोकदृष्टि से प्रतीत होता है कि हम-जैसा मूढ ही है! आचार्य ने कहा है कि विवेकी हो या अविवेकी, पशु आदि की तरह ही अविवेकपुरःसर सभी का व्यवहार होता है। उपाधि-सम्बन्ध मूढ का अज्ञानोपाधि से है, विद्वान् का प्रारब्धोपाधि से, यह अन्तर अवश्य है। जैसे जड़ समेत उखड़ा पेड़ चाहे हरा-भरा दीखे पर प्रतिक्षण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सूखता जाता है वैसे अज्ञानरूप मूल उखड़ने के प्रारब्ध भोग से क्षीण ही होता जाता है, नया कर्म संचय नहीं होता। इसलिये विद्वान् का बाह्य व्यवहार मूढ-सा रहने पर भी अन्तरंग दृष्टि से महान् अन्तर रहता है : मूढ तो है भी मूढ, रहता भी मूढ-सा है जबकि ज्ञानी है तो सर्ववित् केवल रहता ही मूढ-सा है। इससे उसके विनय की पराकाष्ठा व्यक्त होती है जिसके लिये प्रसिद्ध है कि विद्या विनय देती है। मूढ उपाधिरूप हुआ रहता है, विद्वान् उपाधि में रहता है, तद्रूप नहीं होता। अज्ञ का उपाधि व उसके धर्मों से लेप होता है, विद्वान् का नहीं। जैसे घट आदि उपाधि में रहता आकाश उनके लेप अर्थात् वास्तविक सम्बन्ध से रहित है वैसे विद्वान् लेपशून्य है। वायु की तरह उसका आचरण अनासक्त है, स्पर्श सभी का करता है, प्राणादि बनकर बल सभी को देता है, न राग से किसी में रुकता है, न द्वेष से किसी से दूर रहता है। ये विशेषताएँ विद्वान् से निकटता रखें तो शनैः शनैः समझ आती हैं। यों रहता वह अपना प्रारब्ध समाप्त कर विदेहभाव से रहता है॥५१॥

विद्वान् का प्रारब्ध पूरा होने पर उसके विदेह कैवल्य का कथन करते हैं—

उपाधिविलयाद् विष्णौ निर्विशेषं विशेद् मुनिः ।
जले जलं वियद् व्योम्नि तेजस्तेजसि वा यथा ॥५२॥

उपाधि विलीन होने से मुनि विष्णु में ऐसा प्रवेश करता है कि उससे कोई अन्तर रहता ही नहीं। जल में जल, आकाश में आकाश या तेज में तेज जैसे विष्णु में विद्वान् विलीन होता है।

स्थूल उपाधि तो मरने पर सभी की लीन होती है, विद्वान् का वैशिष्ट्य है कि इसकी सूक्ष्म उपाधि (लिंग शरीर) भी लीन हो जाती है। कारण उपाधि तो तत्त्वज्ञान होने पर पहले ही लीन (बाधित) हो चुकती है। यों उपाधिमात्र न रहने से योगाभ्यासी मननशील विद्वान् व्यापक चैतन्य से सर्वथा एक, अभिन्न हो जाता है। घड़ा फूटे तो घटाकाश जैसे महाकाश से सर्वथा एक होता है, बर्फ पिघले तो जैसे पानी में सर्वथा एक हो जाती है या आग में और आग डालो तो अलग आगें नहीं रहतीं वैसे विद्वान्-ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता। प्रारब्धरूप उपाधि की तरह घड़ा या बर्फ-आकार बनाने वाली ठण्डक या अलग अंगारा में अन्तर भले ही हो, आकाश-जल-अग्नि में अन्तर नहीं होता। किंच ठण्डक बर्फ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से एकमेक मिलती है फिर पिघलने पर न बर्फ़ रहती है न ठण्डक। आगों में भेद ईंधन के भेद से रहता है और मिलकर आग एक होने पर भी ईंधन अलग रहता है। घड़ा जब घटाकाश 'बना' रहा है तब भी बन कुछ नहीं रहा, उपाधि की कल्पनामात्र है। इसी प्रकार प्रारब्ध व जीवभाव (या उपाधियाँ) दोनों की निवृत्ति हो जाती है, व्यावहारिक स्तर पर बाह्य प्रपंच यथावत् रहता है अतः इसे सम्पन्न करती माया-उपाधि ईश्वर-व्यवहार का निमित्त बन जाती है एवं स्वदृष्ट्या जीवभाव का भी त्रैकालिक अभाव स्पष्ट होता है। सर्वथाऽपि ज्ञानी और विष्णु में फ़र्क़ कुछ नहीं रहता। सर्वथा परमात्मरूप रहना ही विदेहमुक्ति है।

श्रवणपूर्वक मननरूप विचार की दृढता जीवभाव के बाध के लिये पर्याप्त है तथापि विचारित अनुभूति की स्थिरता न रहने पर पूर्वाभ्यास से परिच्छिन्नता-प्रतीति होना सहज है। परमात्मा को भी समझने में साधन अंतःकरण ही है, उसी में आत्माकार भी वृत्ति बनेगी जो परमार्थ आत्मवस्तु को विषय करेगी। अंतः-करण में योग्यता की कमी रहते वृत्ति चंचल हो जाती है तो सत्यानुभव टिक नहीं पाता। इसके लिये संसारासक्ति छोड़कर बारम्बार सत्य-दृष्टि बनाने में चित्त को लगाना पड़ता है जिसे अभ्यास-वैराग्य द्वारा कहा जाता है। सांसारिक संस्कारों के कारण सांसारिक निश्चय सरलता से हो जाते हैं तो हम स्वयं को 'बुद्धिमान्' समझते हैं पर आत्मा के संस्कार न होने से उसके बारे में निश्चय हो तो वास्तविक बुद्धिमानी है। लौकिक बुद्धि से आत्मनिश्चय नहीं होता। आत्माकार न लेना, लेकर भी उसमें न ठहरना बुद्धि की मन्दता है। साधारण लोग तो संसार के भी बारे में निश्चय-पर्यन्त दृढता नहीं बनाते। सांसारिक चीजों का प्रमाण से ज्ञान होने पर भी पूर्वाग्रह या राग-द्वेषवश मन उसे स्वीकारना नहीं चाहता तो 'मुझे भान नहीं हो रहा' ऐसी विपरीत भावना व्यक्त करता है। चार दुकानें पूछकर सौदा लिया, पक्का पुर्जा बनवा लिया, अब भी कोई कह दे 'मँहगा लाये, मुझे कम भाव में मिला था' तो मन चिन्तित हो जाता है कि कहीं ठगा तो नहीं गया! एक डाक्टर का इलाज चलते कोई अन्य डाक्टर की प्रशंसा कर दे तो अपने उपचार के प्रति सशंक बन जाता है। यह बुद्धि की मन्दता का परिचय है। जब दृष्ट विषयों में यह स्थिति है तब सूक्ष्मातिसूक्ष्म अतीन्द्रिय, मन-वाणी के अविषय के बारे में यदि निश्चय न टिके तो अचम्भा नहीं। इसके लिये अभ्यास अवश्य करना चाहिये। प्रमाण के अनुरूप चित्त को आत्माकार बनाता रहे तो साधक अवश्य निष्ठा पा जायेगा।।५२।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शास्त्र प्रमाण से जगत्कारण अद्वितीय ब्रह्म का निश्चय ही स्थायी रह सकता है, लौकिक आदि मतों से उसे विचलित करना न हितकर है न बुद्धिसंगत है—

यल्लाभाद् न परो लाभो यत्सुखाद् न परं सुखम्।
यज्ज्ञानाद् न परं ज्ञानं तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत्॥५३॥

जिसे पाने से बेहतर कोई प्राप्ति नहीं; जिसके सुख से अन्य कोई सुख नहीं, जिसे जानने के अलावा कोई बोध नहीं वह ब्रह्म है यह निश्चय करना चाहिये।

परमार्थरूप आत्मा की उपलब्धि ही वास्तव में लाभ कही जा सकती है क्योंकि उसे पाने पर फिर कुछ पाने जैसा रह नहीं जाता। आत्मातिरिक्त सब है ही मिथ्या तो उसे चाहा ही नहीं जा सकता कि उसकी प्राप्ति 'लाभ' कही जाये। संसार को बनाने वाले, रखने वाले परमात्मा की प्राप्ति उनके बनाये पदार्थों की प्राप्ति से श्रेष्ठ होना स्वाभाविक है। अत: परमात्मचिन्तन निरन्तर करना उचित है। बुद्धि में मन्दता न हो तभी निश्चय हो पाता है अन्यथा संकल्प-विकल्प का क्रम ही चलता रहता है। स्थिर बुद्धि वाले मित्र तो औलाद पैदा होने से पहले तय कर लेते हैं, 'हमारे यदि पुत्र-पुत्री हुए तो विवाह कर देंगे' जबकि मन्दमति विवाह के बाद भी तलाक देते हैं! विचारपूर्वक निश्चय करना चाहिये फिर उस पर स्थिर रहना चाहिये। व्यावहारिक निश्चय भी यों दृढ करें तभी निश्चय में बल आता है एवं परमार्थ में स्थिति बनती है। आत्मनिश्चय की सामग्री भी सुलभ नहीं है। न्यायवेत्ता गुरु के मुख से वेदान्त श्रवण करना श्रुति ने भी एक आश्चर्य माना है। बुद्धि में विचार से ही निश्चय हो सकता है। गुरु समझाने में कुशल भी हो पर उसकी जीवनचर्या देखकर उसपर निष्ठा न बने तो भी शिष्य परमात्मनिश्चय नहीं कर पाता। शिष्य मर्यादा को महत्त्व देने वाला हो, गुरु मर्यादा को महत्त्व न दे तो शिष्य को श्रद्धा नहीं हो पाती। दुर्वासा-सा क्रोधी भले ही न्यायवित् हो, समझा पाये पर शांतिप्रिय शिष्य उससे ग्रहण नहीं करना चाहता। इसी प्रकार गुरु कारुणिक चाहिये अन्यथा समय, श्रम आदि लगाकर शिष्य को समझायेगा नहीं। विक्षेप न चाहने वाले ऐसे भी महात्मा होते हैं जो पास आने वालों को पत्थर मार कर भगावें! श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, मर्यादित, कारुणिक आदि सारी विशेषताएँ एक-साथ मिलें यह दुर्लभ ही है। जिस साधक को ऐसे आचार्य का लाभ न मिले या अन्य हेतुओं से विचार सम्भव न हो वह बारम्बार चिन्तन करे, भावना ही करे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'विरोधि प्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्तर्येण भावनम्' स्वयं के जीवभाव को छोड़े, मैं को जीव समझना छोड़े तथा 'अहम्ब्रह्म' भावना करे–यह साधक के लिये हितकर है। झूठी भावना भी जब प्रभावी देखी गयी है तब सच्ची भावना की सफलता में क्या संदेह! ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप साक्षात् समझने का है, उसी के सगुण रूप उपास्य हैं। सगुण का भी उपदेश है गुणातीत समझाने के लिये। तात्पर्य स्वरूपमात्र में है यह समझ लेना चाहिये। इसलिये उसे आत्मरूप समझें तो, वैसी भावना करें तो, दोनों स्थितियों में लाभ है, यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लाभ है, इससे अधिक कोई लाभ सम्भव नहीं। अद्वितीय सत्य स्वतंत्र होने से सुखरूप है एवं स्वातंत्र्य से परे कोई सुख लोक में भी मान्य नहीं। कल्याणरूप सत्य सुख का ज्ञान ही वास्तव में ज्ञान है इसमें क्या कहना!।।५३।।

पूर्वोक्त का और विस्तार करते हैं—

यद् दृष्ट्वा न परं दृश्यं यद् भूत्वा न पुनर्भवः ।
यज्ज्ञात्वा न परं ज्ञेयं तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ।।५४।।

उसे ब्रह्म समझना चाहिये जिसका दर्शन कर लेने पर अन्य कोई दृश्य (देखने का विषय) नहीं रहता, जो होकर फिर होना नहीं पड़ता, जो जानकर कुछ जानने को नहीं रह जाता।

वेद ने केवल आत्मा को दृश्य, 'द्रष्टव्यः' कहा है। इहलोक-परलोक की चीज़ों, व्यक्तियों को शास्त्र देखने योग्य नहीं बताता। अन्य देखने के बाद भी देखने को बहुत कुछ रहता ही है अतः अन्य देखना 'परम' नहीं जबकि आत्मदर्शन से सब कुछ दीख जाता है, न दीखा कुछ बचता नहीं अतः वही परम दर्शन है। दीखता वह प्रत्यग्रूप से, अहं-रूप से ही है। इसलिये ब्रह्मदर्शन से प्रत्यगात्मा ब्रह्म 'होता' ही है। ब्रह्म से ऐसा अभेद उपलब्ध हो चुकने पर फिर देहादि से तादात्म्य नहीं हो पाता अतः पुनः जन्मादि असंभव है अतः फिर आगे शरीरादि वाला 'होना' नहीं पड़ता। परमात्मभाव के लाभ से संसारचक्र समाप्त हो जाता है। अतः अन्य कुछ ज्ञेय नहीं। कुछ अन्य हो तो ज्ञेय-अज्ञेय की संभावना भी हो, जब अन्य ही नहीं रहता तब ज्ञेय न रहे इसमें क्या कहना! परमात्मा को जान चुके अतः वह भी अब 'ज्ञेय' नहीं रहा। इस प्रकार परमात्मज्ञान से ज्ञेयमात्र समाप्त हो जाता है यह भाव है।।५४।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परमात्मव्यापकता व्यक्त करते हैं—

तिर्यगूर्ध्वमधः पूर्णं सच्चिदानन्दमद्वयम्।
अनन्तं नित्यमेकं यत् तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत्॥५५॥

जो एक सच्चिदानन्द अद्वय अनन्त नित्य पूर्ण है वही ब्रह्म है यह निश्चय करना उचित है।

ब्रह्म व्यापक तत्त्व है। उसका मैं में साक्षात् अनुभव है! जैसे पत्थर को भी विष्णु समझ पाते हैं वैसे भी मैं को ब्रह्म समझें तो स्वयं के व्यापकभाव का भान सम्भव है। पत्थर को विष्णु केवल शास्त्र के भरोसे समझते हैं जबकि मैं को ब्रह्म शास्त्र एवं युक्ति दोनों से समझ पाते हैं। जिसे तो अनुभव हो गया उसके लिये यही वस्तुस्थिति है, बाकी लोग इसे कल्पना मानते हैं! एक ब्रह्मनिष्ठ का शिष्य शास्त्रों का तो अध्येता था पर आत्मानुभव से शून्य था। एक बार एक वृद्धा ने आकर प्रार्थना की 'मैंने एक हजार ब्राह्मणों को भोजन कराने की प्रतिज्ञा की थी पर धन न होने से ऐसा कर नहीं पायी। कथा में सुना कि गायत्रीवेत्ता सौ ब्राह्मणों को जिमाने के बराबर एक वेदवेत्ता को जिमाना है, उससे सौ गुणा श्रेष्ठ उपनिषत् जानने वाले को जिमाना है, उससे भी श्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ को जिमाना है। एक ब्रह्मनिष्ठ को जिमाने से हजार ब्राह्मणों के भोजन की प्रतिज्ञा पूरी हो जायेगी अतः आप भोजन करने चलिये।' शिष्य ने कहा 'यह तो अर्थवाद है, ब्रह्मवेत्ता की प्रशंसा है। ऐसा नहीं कि एक को खिलाने से हजार को खिलाने का पुण्य हो जाये।' गुरु जी बोले कि भोजन कराना चाहती है तो खा आते हैं, क्या हर्ज है। दोनों ने जाकर उसके घर भोजन किया, जब शिष्य गुरुजी की जूठी पत्तल उठाने लगा तब एक के नीचे एक यों एक हजार पत्तलें निकलती गयीं, सब में जूठन लगी थी! समझ गया कि गुरु जी उसे प्रत्यक्ष दिखा रहे थे कि शास्त्रकथन यथार्थ है, अर्थवाद मानकर छोड़ने लायक नहीं। जीव की ब्रह्मरूपता का उपदेश भी इसी प्रकार यथार्थ है, उसे भी अर्थवाद आदि मानना गलत है। इसलिये मैं ही पूर्ण तत्त्व होने से सब दिशाओं में हूँ यह विद्वान् की वास्तविक अनुभूति है। द्रौपदी के बर्तन से निकालकर एक पत्ता खाकर त्रिलोकी की तृप्ति तभी हुई जब सर्वत्र एक की ही उपस्थिति है। इसी आधार पर वैदिक कर्मविधियाँ हैं, किसी वर्ण वाला हो, किसी आश्रम वाला हो, सबको एक परमेश्वर की ही सेवा करनी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, उसी ने सबको विविध कार्यों पर नियुक्त किया है अत: जो भी स्वधर्म करता है वह उससे परमेश्वर को ही प्रसन्न करता है। जीवभाव में परिच्छिन्नताभिमान रहते भले ही ब्रह्मभाव सत्य न प्रतीत हो पर जैसे प्रतिबिम्ब देखकर बिम्ब का सही ज्ञान हो जाता है वैसे अपनी ब्रह्मरूपता का सही ज्ञान तो हो ही जाता है। इसीलिये 'अहम्ब्रह्म' उपासना भी फलकाल में प्रमातुल्य ही बतायी गयी है, अबाधित वृत्ति ही रहती है।।५५।।

विधि-निषेध दोनों ढंगों से ब्रह्मवर्णन संगृहीत करते हैं—

अतद्व्यावृत्तिभेदैस्तु वेदान्तैर्लक्ष्यतेऽव्ययम्।
अखण्डानन्दम् एकं यत् तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत्।।५६।।

जो विभिन्न विषय ब्रह्म हैं नहीं उनके निषेधों द्वारा वेदान्त जिस एक अखण्ड आनंद अव्यय को लक्ष्य करते हैं उसे ब्रह्म समझा जाये।

'तत्' अर्थात् प्रतिपाद्य तत्त्व, 'अतत्' अर्थात् जो वह (प्रतिपाद्य) नहीं, उसकी व्यावृत्ति अर्थात् निषेध। व्यावर्त्त्य-भेदों से व्यावृत्तियाँ विभिन्न होती हैं। तात्पर्य है कि ब्रह्म का वर्णन वेदान्त इस तरह भी करते हैं कि वह क्या नहीं है, कैसा नहीं है। यह निषेधमुख से वर्णन है। और यह भी बताते हैं कि वह क्या है, यह विधिमुख से वर्णन है। मन से परतत्त्व का पुन: पुन: चिन्तन करना आवश्यक तथा चिन्तन के ये ही प्रकार हैं कि क्या है और क्या नहीं इसका निश्चय करे। आचार्य बादरायण ने 'अक्षरधियं त्ववरोध: सामान्यतद्भावाभ्याम् औपसदवत् तदुक्तम्' (३.३.३३) अधिकरण में निषेधरूप सब वर्णन इकट्ठे कर ब्रह्म क्या नहीं है यह समझना आवश्यक बताया। परमात्मा के बारे में अनेक सम्भावनाएँ उठती हैं जिन्हें वेद ने मना किया है, वे प्रसंग इकट्ठे कर उस तत्त्व को समझना चाहिये। यही अतद्व्यावृत्ति है जिससे मन परमेश्वर पर स्थिर होगा। इसी प्रकार 'आनन्दादय: प्रधानस्य' (३.३.११) द्वारा आचार्य ने कहा कि ब्रह्म जैसा है वैसा बताने वाले वचन भी इकट्ठे कर समझने ज़रूरी। आनन्दादिरूप उसमें सदा मिलते हैं।

परमात्मवर्णन अभेद-कथन से करने पर चार सम्भावनाएँ आती हैं : व्यावहारिक तादात्म्य (एकता), प्रातिभासिक (आध्यासिक) तादात्म्य, बाधपूर्वक तादात्म्य और अखण्डता। जहाँ विशेष्य-विशेषणभाव से एकता कही जाये वहाँ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यावहारिक कहलाती है। जब कहते हैं 'लाल कपड़ा लाओ' तब जो लाल है उसी को कपड़ा भी कह रहे हैं अत: एक वस्तु को लाल भी कहा कपड़ा भी कहा तो लाल और कपड़े में ऐक्य व्यक्त किया जो व्यावहारिक है। लाल कपड़ा माँगो और कोई लाल तो कलम तथा पीला कपड़ा पकड़ा दे कि लाल भी दे दिया, कपड़ा भी दे दिया! सौ का एक नोट या दस के दस नोट दोनों हैं बराबर रुपये लेकिन दस लोगों को बाँटने हैं तो दस नोटों में ही सौ रुपये चाहिये। लड़की ब्याहनी है तो इक्कीस साल का एक लड़का ही चाहिये, सात-सात साल के तीन लड़कों से काम नहीं बनेगा! व्यावहारिक अभेद कहने पर वस्तु एक समझी जायेगी, बतायी विशेषताएँ उसमें रहेंगी। लाल कहा तो बाकी रंग मना कर दिये, कपड़ा कहा तो बाकी चीज़ें मना कर दी; जिसमें लाली एवं कपड़ापन (पटत्व) हो उस एक वस्तु को बताया। इस तरह व्यवहार में एक ही चीज़ आयी अत: इसे व्यावहारिक तादात्म्य कहा।

दूसरा है प्रातीतिक तादात्म्य। दूर से चमकता देख चाँदी मानकर पहुँचे, 'यह चाँदी है' समझकर उठाया। उठाने पर 'यह' तो रहा, 'चाँदी' नहीं रही क्योंकि वह सींप निकली! जब तक भ्रम था तब तक 'यह' और 'चाँदी' की जो एकता समझ रहे थे वह प्रतीतिमात्र थी अत: इसे प्रातीतिक या आध्यासिक एकता कहा।

इसी तरह 'जिसे चाँदी समझा वह सींप है' यों 'जिस' और 'वह' में तो व्यावहारिक एकता है लेकिन चाँदी और सींप में बाध द्वारा एकता है अर्थात् चाँदी का बाध करके एक सींप का ही कथन है। चाँदी और सींप यों दो को एक न कहकर चाँदी की मनाही करके एक सींप को कह रहे हैं। इसे बाधसामानाधिकरण्य, बाधाभिप्राय से एकता कहते हैं।

चौथी मुख्य समानाधिकरणता है जहाँ एक अर्थात् अखण्ड अर्थ कहा जाता है। 'जिसे कलकत्ते में करोड़पति देखा वही आज दिल्ली में फटेहाल भीख माँगते दीख रहा है'—यहाँ 'वही यह' इस तरह जिस देवदत्त की एकता कही वह अखण्ड अर्थ है। कलकत्ता-दिल्ली देश अलग, करोड़पति-खखपति अवस्था अलग, काल अलग लेकिन इन सब भेदों को छोड़कर जिसे 'एक' कहा वह वास्तविक देवदत्त अखण्ड है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतद्व्यावृत्ति द्वारा कहने पर बाध-विधि से बताया जाता है, जो भ्रम था ब्रह्म के बारे में उसे हटाकर तत्त्व कहा जाता है। सत्य-ज्ञान-आनन्द आदि द्वारा कहने पर मुख्य या व्यावहारिक एकता है क्योंकि जो सत्य वही ज्ञान, वही आनन्द, वही अनन्त, वही प्रत्यक्स्वरूप ब्रह्म है। सत्यादि स्वरूपबोधक शब्द हैं, सत्यतादि विशेषता के अभिप्राय वाले नहीं। सत्य आदि आत्मा के स्वरूप होने पर भी भिन्न-जैसे, विशेषण-जैसे लगें यह सम्भव ही है लेकिन जैसे 'चीनी मीठी है' में मिठास विशेषण नहीं स्वरूप है वैसे सत्यादि भी ब्रह्म का स्वरूप ही है। यदि यह समझना कठिन पड़े तो सत्यादिवाक्य भी असत्यादि की व्यावृत्ति-परक जान लेने चाहिये। लोकप्रसिद्ध सत्यादि जैसे अपने वाच्य को 'असत्यादि नहीं' यों बता देते हैं वैसे ब्रह्म के लिये कहे भी उसे 'असत्यादि नहीं' यही बताते हैं— यों सत्यादि भी बाधसामानाधिकरण्य के तात्पर्य वाले समझ सकते हैं।

महावाक्यद्वारा जो अभेद कहा जाता है वह मुख्य है, अखण्डार्थबोधक है। तत् अर्थात् जगत्कारण से उपलक्षित की त्वम् अर्थात् अन्तःकरणोपलक्षित से एकता बताने पर अखण्ड आत्मा का बोध होता है। किन्तु इस तरह समझने के लिये गहन विचार आवश्यक है। जो उसमें असमर्थ वह 'सभी कुछ ब्रह्म है' यों बाध से एक ब्रह्मरूप अर्थ हृदय में प्रतिष्ठित कर सकता है। इन्द्रियादि से ग्राह्य नाम-रूप-कर्म का निषेध कर जो स्वप्रकाश पूर्ण सत् वही 'सर्वं ब्रह्म' से समझा जाता है। नाम-रूप-कर्म हटाकर, इनका बाधकर, सत्य वस्तु ब्रह्म समझनी है।

जगत् से, 'सर्व' से जोड़कर ब्रह्म को, 'है' को देखते-देखते इन्हें अलग करना अति कठिन हो चुका है जैसे अहङ्कार से प्रत्यक् स्वरूप का विवेक अत्यन्त कठिन है। आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र अपनी इस विवशता को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

'किं वा कुर्वे विषमविषयस्वैरिणा वैरिणाऽहम्
बद्धः स्वामिन् वपुषि हृदयग्रन्थिना सार्धमस्मिन्।
उक्ष्णा दर्पज्वरभरजुषा साकमेकत्र नद्धः
श्राम्यन् वत्सः स्मरहर युगे धावता किं करोतु॥'

हे स्मर अर्थात् कामदेव के प्राणों का हरण करने वाले स्वामिन् महादेव! शरीर में मुझे आपने हृदयरूप गाँठ लगाकर मन से बाँध दिया मानो बूढ़े बैल के साथ मदमस्त साँड को जोत दिया हो! यह विषम विषयों से स्वेच्छाचार को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उत्सुक मेरा बैरी ही है पर प्रबल होने से इसके साथ जुता मैं स्वयं कर कुछ नहीं सकता, जिधर यह दौड़े उधर मुझे घसीट ले जाता है। मन विभिन्न नाम-रूप-कर्मात्मक विषयों की ओर कामनाग्रस्त हुआ दौड़ता रहता है। मनोवृत्ति विषयाभिमुख तो स्वभाव से बनती है, अहंकारग्रन्थि से बँधा जीव उसी ओर आकृष्ट हो जाता है। 'स्वैरी' अर्थात् अविवेकपूर्ण कामना से ही प्रेरित, अतएव ऐसा साथी दुश्मन ही है। विवेकपूर्ण इच्छा से प्रेरित हो तब तो सम्भावना है विचार जाग्रत् होकर उधर्ं से विमुख होने की लेकिन अविवेकवश जो कामग्रस्त हैं वह युक्ति-प्रमाण को महत्त्व दे ही नहीं पाता! साथ ही मन में दर्प है, दर्प का बुखार है! दर्प है तो बीमारी लेकिन दर्पवश मन हो जाता बेकाबू है जैसे संनिपातादि दशा में रोगी अण्डबण्ड बोलने लगता है तो नियंत्रण में लाना असम्भव हो जाता है। 'मुझ-सा कोई नहीं' ऐसा अभिमान यहाँ 'दर्प' है। जीव अपनी ताकत से इसे काबू नहीं कर सकता क्योंकि 'स्मरहर', कामान्तक तो शिव ही हैं! जीव खुद ही मन से घुली-मिली वस्तु है अतः मन अपने नियंत्रण के लिये जीव को कैसे साथ देगा! यदि पुलिस वाले ने स्वयं चोरी की है, उसी के पास शिकायत दर्ज कराओ तो क्या कभी चोर पकड़ा जा सकता है! इसी प्रकार मनोघटित जीव मन को स्वेच्छाचार से रोककर साधना में लगा सके यह सम्भव नहीं। साक्षिरूप शिव ही यह कार्य करते हैं।

अज्ञात वास के दौरान पाण्डव विराट्-राजा के सेवक बनकर रहे। सबसे वीर अर्जुन बृहन्नला-रूप से रहा! परमात्मा की विचित्र लीला है, पौरुष जिसमें सर्वाधिक प्रकट था वही नपुंसक बना रहा। कौरवों को शंका हुई कि पाण्डव वहाँ होंगे तो विराट् की गायें चुराने दलबल सहित आये। संगदोष का प्रभाव देखो : भीष्म-द्रोण जैसे समझदार गायें चुराने गये! विराट् के पुत्र पर चोर भगाने का जिम्मा आया। वह घबरा रहा था तो बृहन्नला ने कहा 'मुझे रथ चलाना आता है, मैं ले चलता हूँ, घबराओ मत।' राजकुमार युद्ध में अक्षम होकर भागने लगा तो बृहन्नला उसे एक सेमल के वृक्ष के पास ले गया और वहाँ मुर्दा-आकार में बाँध कर रखे अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर स्वयं रथी बना तथा राजकुमार को सारथि बनाया। अर्जुन का नियम था कि गुरु जी को प्रणाम किये बिना युद्धारम्भ नहीं करता था। शुरू में ही दो बाण द्रोण के पैरों पर पड़े, दो बाण दोनों कानों के पास से सनसनाते हुए निकले तो द्रोण ने भीष्म से कह दिया 'अर्जुन आ गया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है!' विभिन्न वर्षों की गणनाकर भीष्म ने निर्णय किया कि अज्ञातवास का एक वर्ष पूरा हो चुका है अतः अब पाण्डवों के प्रकट होने में कोई हानि नहीं। अर्जुन ने व्यर्थ युद्ध खींचने में रस न लेकर सब को मूर्छित किया और उनके कपड़े उतार कर राजकुमार को सौगात में दे दिये! जब कौरवों को होश आया तो शरम के मारे लौट गये, गायें चुराकर नहीं ले गये। बाद में सभी जान गये कि बृहन्नला वस्तुतः अर्जुन है और उसी ने कौरवों पर विजय हासिल की है।

विचार करो : यह संसार विराट् नगर ही है। जाग्रत् का अभिमानी अपने समष्टि रूप में विराट् कहलाता भी है। विषयों की वासना गायों का हरण ही है। रूप-रस आदि को इन्द्रियाँ चुराकर मन में लाती रहती हैं। शिव ही अज्ञातवास में जीव है। गूढ, छिपा होने से कोई यह रहस्य जान नहीं पाता। हम 'मैं मन को जीतूँगा' इस अभिमान से साधना में प्रवृत्त होते हैं तो अवश्य असफल रहते हैं। अहंकार द्वारा अहंकार पर जीत कैसे हासिल होगी! इसके लिये अतद्व्यावृत्ति से अनात्मभाग पृथक् करने से लेकर अखण्डाकारवृत्ति पर्यन्त सब शस्त्र-अस्त्र हैं। मन बंधन व मोक्ष दोनों का हेतु बन सकता है लेकिन मोक्षहेतु बनाना कैसे– यह रहस्य छिपा है अतः हम अहंकार द्वारा जैसे भोगों में प्रवृत्ति करते हैं वैसे साधना में करते हैं तो हारते जाते हैं। सूर्य घास का पोषक है, उसी से घास जलानी हो तो उपाय है : आतशी शीशे के द्वारा सूर्यकिरणों को घास पर केन्द्रित करो तो कुछ देर में घास जल जायेगी। किन्तु यह उपाय प्रसिद्ध नहीं अतः काम में लेते नहीं। इसी तरह विवेक द्वारा ही मन वैराग्यपूर्वक मोक्षहेतु बनता है यह समझकर जब उसका उपयोग करें तभी सफल होंगे। जब तक राजकुमार रथी रहा तब तक हारा, जब अर्जुन को रथी बनाया तभी जीता। अभी हम ईश्वर को निर्देश देते हैं 'ऐसा करो, वैसा करो' जबकि हमें उसके निर्देशों का पालन करना है। उनकी यही आज्ञा है कि विषय-परीक्षा करें, आत्मपरीक्षा करें, अनात्म-प्रवणता छोड़कर शमादिपूर्वक परमात्मैक्य का निश्चय करें। यही मोक्ष का निर्विघ्न उपाय है।।५६।।

केवल अनात्म-व्यावृत्त एक सत् तत्त्व ही पूर्ण आनन्द कैसे जबकि ब्रह्मा-विष्णु आदि भी निरतिशय आनन्द वाले बताये गये है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अखण्डानन्दरूपस्य तस्यानन्दलवाश्रिता: ।
ब्रह्माद्यास्तारतम्येन भवन्त्यानन्दिनोऽखिला: ॥५७॥

अखण्ड आनन्दात्मक उस सत्तत्त्व के आनन्द के किंचिद् भाग का सहारा लिये कमोवेश से ब्रह्मा आदि सब आनन्द-सम्पन्न होते हैं।

शास्त्रों में हिरण्यगर्भपर्यन्त जो भी सानन्द कहे हैं उनका आनन्द सापेक्ष ही है यह आनन्दमीमांसा द्वारा तैत्तिरीयादि में सूचित किया है अत: वे पूर्ण आनन्दरूप हैं नहीं पर पूर्ण आनन्दरूप सत्तत्त्व के सहारे अपनी उत्कृष्ट उपाधि का लाभ लेकर अत्यन्त आनन्द वाले हो जाते हैं अत: बाकी जीवादि से अत्यधिक उनका आनन्द होने से कहीं कह भले ही निरतिशय दिया हो पर है उनका आनन्द सातिशय। 'अन्य भूत उसी आनन्द के एक भाग का उपाश्रयण करते हैं' आदि द्वारा वेद यह समझाता भी है। जैसे पूर्ण पका दशहरी आम खाकर पपीता चखो तो मीठा नहीं लग सकता ऐसे ब्रह्मरूप आनन्द के सामने अन्य सभी सुख निस्तत्त्व हैं। ब्रह्मा आदि उपाधि-अपेक्षा से व्यवहार्य हैं अत: 'आनन्दी' आनन्दवाले हैं, स्वयम् आनन्दरूप नहीं और इसीलिये इनके आनन्दों में उपाधियोग्यतावश कम-ज्यादा का भेद भी है। सत्तत्त्व स्वरूप से अखण्ड आनन्द है अत: वहाँ आनन्दघनता है, तारतम्य नहीं। उपाधि अर्थात् नाम-रूप से आनन्द होगा यह तो झाँसा ही है, आनन्द एकमात्र परमात्मा है। उसी को स्वयं में प्रतिबिम्बित कर उपाधि अपने को सुख-सुखी दिखा सकती है, स्वयं सुख है नहीं।

बृहन्नला बना अर्जुन जब सालकी अवधि खत्म होने पर प्रकट हो गया तब जैसे भीष्मादि के कपड़े तक खुल गये, शरम के मारे लौट गये, वैसे आत्मतत्त्व जब अविद्या खत्म होने पर प्रकट होता है तब बड़ी से बड़ी उपाधि का मिथ्यात्व उजागर हो जाने से उनमें स्वतन्त्र कोई आनन्द है यह भ्रम असंभव हो जाता है। जैसे विराट् के राजकुमार से यह सब नहीं हुआ वरन् अर्जुन से ही हुआ वैसे ईश्वर की कृपा से ही साधक यह उपलब्धि कर सकता है, अपने साहंकाररूप के बल पर नहीं॥५७॥

आनन्दरूप होने से आत्मवस्तु ही पूर्ण प्रेम का एकमात्र सर्वानुभवसिद्ध पात्र है यह कहते हैं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तद्युक्तम् अखिलं वस्तु व्यवहारस्त्वतिप्रियः ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म क्षीरे सर्पिरिवाखिले ।।५८।।

संसार की सभी चीज़ें उस अधिष्ठान आनन्द से सम्बद्ध हैं इसी से वस्तुएँ और उनसे व्यवहार अत्यन्त प्रिय लगता है। सब चीज़ों से प्रेम यही सिद्ध करता है कि सारे दूध में घी की तरह सारे संसार में परमात्मा निहित है।

जीव मूलत: आनन्द से प्रेम करता है, आनन्द देते हैं इसीलिये पदार्थों या व्यक्तियों से प्रेम कर लेता है। जीवमात्र सांसारिक पदार्थों और इनसे होने वाले व्यवहारों से प्रेम कर ही रहा है तो इन्हें आनन्द नहीं कैसे समझें? इसका उत्तर दिया कि जैसे दूध की हर बूँद में घी निहित है, उसी से दूध का महत्त्व है वैसे कारणभूत सत्तत्त्व सारे कार्यों में छिपा होने से कार्य भी आनन्द प्रतीत होने से प्रिय बने हुए हैं। विवेकी घी मिलने पर दूध को महत्त्व का नहीं समझता, ऐसे ही अखण्ड वस्तु प्राप्त हो तो संसार नि:सार भासता है। किं च जो यह पहचान विकसित कर लेता है कि ब्रह्मानन्द ही सर्वत्र झलक रहा है उसे सभी वस्तुएँ अतिप्रिय हो जाती हैं क्योंकि उसे सब में निहित पूर्ण आनन्द ही नज़र आता है। संसार के प्रत्येक नाम-रूप में आनन्दघन परमात्मा बैठा है जैसे दूध की प्रत्येक बूँद में घी है। अभी 'बूँद' पर दृष्टि रहती है तो महत्त्व नहीं मालूम पड़ता, उसमें रहने वाले घी पर दृष्टि जाये तो पड़ता है। इसी प्रकार अभी चीज़ें देखते हैं, परिच्छिन्नता ग्रहण करते हैं तो असंतुष्ट रह जाते हैं, तत्त्व समझ लेने पर चीज़ों में रहने वाला शिव दीखता है अत: सर्वत्र एक-सी सन्तुष्टि रहती है। छोटी हो या बड़ी, घड़ी तो घड़ी ही है वैसे उपाधि जैसी भी हो, है तो परमात्मा को ही प्रकट करने वाली। सद्रूपता सर्वत्र सुलभ है जिससे यह रहस्य खुल जाने पर पूर्ण आनन्द की स्थिति रहती है।।५८।।

ऐसा सद् ब्रह्म अतद्व्यावृत्ति से बोध्य है यह याद दिलाते हैं—

अनणवस्थूलम् अह्रस्वम् अदीर्घम् अजम् अव्ययम् ।
अरूपगुणवर्णाख्यं तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ।।५९।।

अणु स्थूल ह्रस्व दीर्घ जन्मवान् व्ययवान् रूपी गुणी वर्ण वाला जो नहीं वह परमात्मा है यह निश्चय किया जाये।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सबसे छोटा परिमाण अणु है, परमात्मा का वह परिमाण नहीं। इन्द्रियों से व्यवहार्य स्थूल है, परमात्मा वैसा नहीं। दीखे, नापा जा सके ऐसे परिमाण ह्रस्व-दीर्घ (छोटा-लम्बा) हैं, परमात्मा दीखता नहीं, नापा नहीं जाता। जिसका कोई अन्य कारण हो वह जन्मवाला होता है, परमात्मा का कारण कोई नहीं अतः अज है। सावयव चीज़ों का व्यय होता है, वे घटती हैं, परमात्मा में अवयव नहीं अतः अव्यय है। अरूप अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का अविषय है, अगुण अर्थात् विशेषताओं से रहित है अतः अवर्ण अर्थात् शब्द से अवाच्य है। ऐसे सच्चिदानन्द को ब्रह्म समझ लें तो अणु-ह्रस्व आदि सारा संसार उसी का उपस्थापक बनकर 'नन्दनवन' हो जाये। 'अवधारण' अर्थात् निश्चय करना आवश्यक है, दृढ बोध के बिना यह स्थिति नहीं होती।।५९।।

जिसका महत्त्व समझाया उसी ब्रह्म को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं—

यद्भासा भास्यतेऽर्कादि भास्यैर्यत्तु न भास्यते।
येन सर्वमिदं भाति तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ।।६०।।

जिसके तेज से सूर्य आदि प्रकाशित होते हैं किन्तु अपने द्वारा प्रकाशित उन सूर्यादि से जो प्रकाशित नहीं होता, जिससे यह सब भासमान है वह ब्रह्म है यह निश्चय करना चाहिये।

श्लोक १९,२८ आदि में इस विषय को सूचित किया था। सूर्यादि की विशेषता है कि रूपादि-ज्ञान को सम्भव बनाते हैं। सूर्यादि स्वयं जड हैं तो ज्ञान को सम्भव कैसे बना सकते हैं? परमात्मा से ज्ञान पाकर ही ऐसा करते हैं। जैसे नाली आदि के अन्दर की चीज़ों का ज्ञान कराने वाले दर्पण आदि सूर्य से प्रकाश पाकर वैसा करते हैं वैसे सूर्यादि आत्मा से पाकर करते हैं। इतना अन्तर है कि दर्पण तो जैसा मिला वैसा प्रकाश प्रतिफलित कर देता है जबकि सूर्यादि परमात्मा से मिले सामर्थ्यरूप प्रकाश को प्राणिदृश्य प्रकाश के रूप में परिणत कर देते हैं। सूर्यप्रकाश से पानी गर्म होकर उस भाप से बर्त्तन गर्म होकर भोजन पकता है तो जैसे रोशनी-भोजन का सम्बन्ध नहीं दीखता वैसे सूर्य के अन्दर हुए परिवर्त्तनवश जड प्रकाश में चित्सम्बन्ध पता नहीं चलता किन्तु शास्त्रादि द्वारा समझा जा सकता है। क्योंकि सूर्यादि चेतन से सत्ता-स्फूर्ति पाने वाले हैं इसलिये इनकी सामर्थ्य परमात्मा को विषय नहीं करती। न सूर्य उसे दिखाता है, न हवा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सुखाती है, न पानी गीला करता है इत्यादि सभी समझ लेने चाहिये। संसारभर में जो कोई सामर्थ्य, सबका मूल स्रोत परमेश्वर होने से 'इदं सर्वम्' यह सभी उसी से 'भाति' भासमान है अत: सभी उसे विषय नहीं कर सकते। हम इसीलिये परमेश्वर में विश्वास नहीं कर पाते कि वह दीखता आदि नहीं जबकि देखने आदि वाले साधन उसे दिखाने आदि में हैं ही सर्वथा अक्षम। पूर्व श्लोक द्वारा संसार में स्थित आनन्द से ब्रह्म समझने के लिये कहा था, इस श्लोक से बताया कि संसार में जहाँ कहीं भान मिले उसे ब्रह्मरूप जाना जाये। साथ ही सभी उपाधियों में जो कोई भानानुकूल सामर्थ्य वह परमात्मा से प्राप्त भान का ही परिवर्तित रूप है अत: हर सामर्थ्य से उसे समझा जाये। केनोपनिषत् के प्रारम्भ में यह रहस्य व्यक्त किया गया है।।६०।।

इसी विषय में श्रीमद्भगवद्गीता को उद्धृत करते हैं—

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद् धाम परमं मम ।।६१।।

सूर्य, चन्द्र, अग्नि उसे प्रकाशित नहीं करते, जिसे पाकर लौटा नहीं जाता वह मेरा परम धाम (पद) है।

सूर्य-चन्द्र-अग्नि से ज्ञान-इच्छा-क्रिया सूचित हैं, ये तीनों ब्रह्म को विषय नहीं करतीं क्योंकि इनका अस्तित्व एवं इनकी सामर्थ्य ही निरन्तर ब्रह्म से है। उससे स्वतन्त्र होते तो कुछ उसमें आहित करते भी पर उसी से सत्ता-स्फूर्ति वाले रहते उसके बारे में सर्वथा अक्षम हैं। इनका यही योगदान है कि इनमें व्यक्त सामर्थ्य को परमेश्वर की अभिव्यक्ति ज़ाना जाये जैसे लट्टू जलता देखकर बिजली की उपस्थिति समझ ली जाती है। परमेश्वरभाव तत्त्वबोध से 'प्राप्त' हो यह वैसे ही सम्भव है जैसे गले की माला 'मिल' जाती है लेकिन मिले-पीछे इससे बिछुड़ना सम्भव नहीं क्योंकि फिर अहंकार-ममकार के उदय का निमित्तभूत स्वरूपाज्ञान ही नहीं बचा। यही परमेश्वर का धाम अर्थात् स्वरूप है। नाम-रूपादि वाले मायिक स्वरूपों से विलक्षण वह परम अर्थात् अमायिक स्वरूप है।।६१।।

सर्वत्र सत् की उपलब्धि की तरह चित् की उपलब्धि समझाते हैं—

स्वयम् अन्तर्बहिर्व्याप्य भासयन्नखिलं जगत् ।
ब्रह्म प्रकाशते वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत् ।।६२।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सारे जगत् को भीतर-बाहर से खुद घेरकर ब्रह्म वैसे ही प्रकाशमान है जैसे आग से तपा लोहे का गोला।

परमात्मा अधिष्ठानरूप में सर्वत्र उपलब्ध है, उसे समझ लिया जाये तो तत्काल मोक्ष है, यदि न समझ पायें तो ऐसी उपासना भी सफल होती है। नगद रुपये हैं तो खरीद कर भोजन कर सकते हो, नहीं हैं तो भूखे रहने से बेहतर है माँगकर खा लेना। इसी प्रकार स्वयं विचार कर सकें तो साक्षात्कार हो जाये, न कर सकें तो ध्यान से वैसी वासना बनायें, क्रममुक्ति मिलेगी। दुष्कर्म एवं कर्महीनता से सत्कर्म श्रेष्ठ, उससे सगुणोपासना श्रेष्ठ, उससे निर्गुणोपासना श्रेष्ठ, उससे तत्त्वज्ञान श्रेष्ठ–यह क्रम है। क्योंकि उपस्थित सर्वत्र है इसलिये वह सर्वत्र ज्ञेय और उपास्य है।

परमात्मा का प्रकाशन इसलिये विलक्षण कि भीतर-बाहर दोनों ओर से घेर कर प्रकाशित करता है जैसे लोहपिंड को आग। घड़े पर सूर्य की रोशनी बाहर से पड़ती है पर भीतर नहीं पहुँचती, घड़े में पड़े दिये की रोशनी भीतर से घड़ा दिखाती है लेकिन बाहर से नहीं। प्रायः प्रकाशों की यही स्थिति अतः परमात्म-प्रकाश का वैशिष्ट्य बताया। जहाँ-कहीं जैसा भी प्रकाशन सभी एकमात्र परमेश्वर का है यह अभिप्राय है। जैसे तपे लोहे में लोहा-आग का फर्क नहीं रहता वैसे जगत्-ब्रह्म में फर्क नहीं है।

अप्पय दीक्षित 'रत्नत्रयपरीक्षा' के प्रारम्भ में लिखते हैं—

नित्यं निर्दोषगन्धं निरतिशयसुखं ब्रह्मचैतन्यमेकं
धर्मो धर्मीति रूपद्वयमयति पृथग्भूय मायावशेन।
धर्मस्तत्रानुभूतिः सकलविषयिणी सर्वकार्यानुकूला
शक्तिश्चेच्छादिरूपा भवति गुणगणश्चाश्रयस्त्वेक एव ॥

ब्रह्म तो दोषगन्ध से भी नित्य ही रहित है, निरतिशय सुख ही उसका स्वभाव है। चित्स्वरूप ब्रह्म में धर्म-धर्मिभव न होने पर भी जैसे तपे लोहे में लोहा और आग (गर्मी) का भेद प्रतीत होता है वैसे ब्रह्म-ज्ञान में अन्तर मान लिया जाता है। नमक में खारापन, मिस्री में मिठास आदि ऐसे ही अनुभव सुलभ हैं। मायावश अभेद न देखकर भेद की प्रतीति हो जाती है। अतः ब्रह्म को धर्मी एवं सत्यता, नित्यता, ज्ञान, आनन्द आदि को उसके धर्म मान लेते हैं। एक अखंड में धर्म-धर्मी का अलग प्रतीत होना माया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'ब्रह्म नित्य है' यह ज्ञानात्मक प्रतीति जबकि 'ब्रह्म में नित्यता है' यह उपासनात्मक वृत्ति होती है। यद्यपि लोकदृष्ट्या 'ब्रह्म नित्य है' को यही समझायेंगे कि उसमें नित्यता है तथापि वस्तुदृष्ट्या नित्यता-नामक किसी धर्म का यहाँ कथन नहीं है। अनेकों में हो तो 'ता'-प्रत्यय लगाकर बताते हैं, नित्य तो एक ब्रह्म ही है अत: नित्यता कहा किसे जाये! अत: ब्रह्म और नित्य इनका अत्यन्त अभेद ही विवक्षित है। इसीलिये स्वरूपलक्षण-वाक्य अखण्डार्थक ही माने गये हैं। जब तक यह समझ न आये तब तक दीर्घकाल-स्थायी चीजों में 'नित्यता' समझकर उसे परमात्मा 'में' समझें यह उपासना है। ज्ञायमान सकल विषयों के रूप में ज्ञानरूप परमात्मा ही प्रतीत हो रहा है, ज्ञानरूप ब्रह्म से पृथक् हुए घटादि ज्ञेय हैं ही नहीं। ऐसे ही इच्छा व क्रिया परमात्मा की ही जाननी चाहिये। जैसे उपकरण-भेद से अभिव्यक्तिभेद होने पर भी ऊर्जा एक विद्युत् रहती है वैसे विभिन्न वृत्तियों के कारण ज्ञान-इच्छादि भेद हैं पर मूल सामर्थ्य ब्रह्म ही है अत: वह ज्ञानरूप की तरह 'इच्छादिरूप' भी समझा जा सकता है। दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र-व्याख्या मानसोल्लास में (१.२१) कहा है—

'ज्ञानक्रिये शिवेनैक्यात् संक्रान्ते सर्वजन्तुषु।
ईश्वरत्वं च जीवानां सिद्धं तच्छक्तिसङ्गमात्॥'

इसी प्रकार (२.४५-६)—

'सर्वे विकल्पा: प्रागासन् बीजेऽङ्कुर इवात्मनि।
इच्छाज्ञानक्रियारूपमायया ते विजृम्भिता:॥
इच्छाज्ञानक्रियापूर्वा यस्मात् सर्वा: प्रवृत्तय:।
सर्वेऽपि जन्तवस्तस्माद् ईश्वरा इति निश्चिता:॥'

श्रुति में ज्ञानरूपता की तरह इच्छा-क्रियारूपता नहीं कही किन्तु कामनापूर्वक सृष्टि बताकर प्रकृति जगत्कारण नहीं यह सिद्ध करने से एवं सृष्टि आदि क्रियावाला बताने से इनकी सूचना समझी जा सकती है। लोक में भी इच्छा एवं स्वतंत्र क्रिया चेतनलिंग ही मान्य हैं। क्योंकि उपाधि-अनुरूप ये सब ब्रह्म से प्रकट होते हैं इसलिये इन्हें उसमें निहित स्वीकारा जाता है। जैसे मिट्टी से घड़ादि किसी कारक द्वारा व्यक्त होते हैं वैसे ईश्वर से ये सब माया द्वारा व्यक्त होते हैं। 'नाऽविद्यामनुपादाय प्रत्यक् कारकतां व्रजेत्' आदि आचार्योक्ति यह स्पष्ट

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करती ही है। लोक में जैसे सब क्रियायें औजारों से होती हैं वैसे परमात्मा के लिये माया औजार है।

कुम्हार, चित्रकार, दर्जी, सुनार और ब्राह्मण परस्पर दोस्त थे। पाँचों कमाई करने गाँव से निकले। जंगल में रात पड़ी, सभी सो जाते तो खतरा था अत: बारी-बारी से जगे। पहली बारी कुम्हार की थी। उसने सोचा कि कुछ करता रहा तो जगेगा अन्यथा सो न जाये। तालाब की मिट्टी पड़ी थी, बैठे-बैठे उसने एक कन्या की मूर्ति बना दी। अगली बारी चित्रकार की थी, उसने भी जगे रहने के लिये उस मूर्ति पर रंग भर दिये। रंगने के बाद वह यों दीखने लगी मानो अभी बोलेगी। अब दर्जी की बारी आयी। एक बार तो उस पड़ी 'लड़की' को देखकर डरा, पलकें झपकती हुई नहीं दीखी, पर पास जाकर देखा तो समझ गया कि साथियों ने बनायी है। उसने अपनी बारी में बैठे-बैठे उसे कपड़े पहना दिये। इसी प्रकार अगली बारी में सुनार ने गहने पहनाये तथा अंतिम बारी में पंडित ने उसमें प्राणप्रतिष्ठा कर दी। तब तक सभी जग गये, जीती-जागती कन्या देखकर सब हैरान थे, पंडित ने कहा 'तुम अपना-अपना काम करते रहे, मेरा काम ही मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा कराना सो मैंने भी अपना काम कर दिया।' अब सोचने लगे कि इसका ब्याह कर दें पर इसके लिये इसकी जाति पता चले। कुम्हार बोला मैंने बनाई तो कुम्हारिन होगी, चित्रकार ने अपनी जाति का बताया, सुनार-दर्जी ने अपनी जातियों का कहा। निर्णय के लिये राजा के पास पहुँचे। उसने निर्णय दिया कि जिस जाति के प्राणों की प्रतिष्ठा हुई उसी जाति की है अत: ब्राह्मण जाति निर्णीत हुई।

हमारा स्थूल शरीर अन्नमय होने से मिट्टी का ही है। कर्मेन्द्रियों समेत प्राणमय कोष इसमें भरे रंग हैं, मनोमयकोष कपड़े और विज्ञानमय कोष गहने हैं। जीवन कब आया? ऐतरेय उपनिषत् कहती है 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' परमेश्वर ने इसमें प्रवेश किया तभी इसमें सारे व्यवहार प्रारम्भ हुए। अत: हमारी जाति तो ब्रह्म ही हो सकता है।

'देहान्तात् कर्त्तुरन्योऽन्यो बुद्ध्यन्ताद् बोद्धुरेव च।
अदेहतोऽजरोऽमृत्युरबुभुक्षोऽपिपासुकः ।
प्राणान्तकरणादन्यो ह्यस्वान्तोऽमोहशोकवान् ॥'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देह-पर्यन्त कर्त्ता होता है उससे मैं अन्य, बुद्धि तक बोद्धा (ज्ञाता) होता है उससे भी अन्य, शरीरवान् न होने से बुढापे व मौत से परे, प्राणभिन्न होने से भूख-प्यासरहित, मन से अलग होने के कारण, शोक-मोह से दूर हूँ। शरीरादि कोषों की जाति का मैं नहीं हूँ, परमात्मा की अर्थात् आनन्दजाति का हूँ। आनन्द है तो पूर्ण, परिच्छिन्न 'हो' तो नहीं सकता पर परिच्छिन्न-सा प्रतीत होकर मैं बना है। उपाधि-भूत कोशों की कमी-बेशी से इसमें कमी-बेशी प्रतीत होती है। स्वयं पूर्ण रहता है, उपाधियों में घटा-बढ़ी होती है। जाग्रत् से थककर स्वप्न में जाता है तो वहाँ की ताजगी लेता है, वहाँ थककर सुषुप्ति की ताजगी लेता है फिर जाग्रत् में ताजा ही पहुँच जाता है। अवस्थोचित उपाधियाँ थकें पर मैं नहीं थकता। थकने वाला, आने-जाने वाला तो अनात्मा, न थकने वाला, एक-सा रहने वाला आत्मा है। करणों में श्रान्ति है, इनसे उपहित में नहीं। सभी सोचते हैं 'आँखें साफ नहीं देखतीं, कानों से कम सुनाई देता है, घुटने काम नहीं देते, पर मुझमें कोई कमी नहीं।' यह यह इसीलिये कि मैं-तत्त्व इन विकारों से रहित है। उपाधि से तादात्म्यवश भले ही मैं समझूँ कि विकारवान् हूँ पर वास्तव में हूँ नहीं।

एक सद्ब्रह्म सारा संसार बनकर खड़ा हुआ है। अन्तःकरण में वही जीवरूप से एवम् अन्यत्र सर्वत्र जगद्रूप से भास रहा है, उससे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इसलिये इस सबके भीतर-बाहर वही व्याप्त है, वही भासमान है जिससे उसकी चिद्रूप से व्यापकता भी स्पष्ट है।।६२।।

परमात्मा की अद्वितीयता ही प्रकट करते हैं—

जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यद् न किञ्चन।
ब्रह्माऽन्यदस्ति चेद् मिथ्या यथा मरुमरीचिका।।६३।।

जगत् से ब्रह्म विपरीत लक्षण वाला है। ब्रह्म से अन्य कुछ नहीं है! ब्रह्म से अन्य यदि है तो वह वैसे ही मिथ्या है जैसे मरुभूमि में सूर्य-किरणों की चमक से दीखता जल।

ब्रह्म ही जगत् के रूप में दीख रहा है ताकि इसके सहारे ब्रह्म समझ सकें। जगत् का कारण उसे समझ पाते हैं, ऐसे ही जगत् के सत्य ज्ञान सुख आदि के सहारे ब्रह्म को समझ पाते हैं। जैसे कपड़ा दीखे भले ही धागों से अन्य पर है नहीं वैसे जगत् भी है नहीं। उसे अलग मानें तो मिथ्या ही मानना भी पड़ेगा क्योंकि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सत्य से अन्य तो झूठ ही होगा, ज्ञान से अन्य जड ही होगा, आनन्द से अन्य दुःख ही होगा। इसीलिये ऐसे जगत् से ब्रह्म विपरीत लक्षण वाला बताया। जैसे मृगमरीचिका-रूप जल को बालूरूप या किरणरूप नहीं कह सकते वैसे जगत् को ब्रह्मरूप नहीं कह सकते लेकिन अधिष्ठान से अन्य है कुछ नहीं इतनी बात अवश्य है। यही अध्यस्त से अधिष्ठान में वैलक्षण्य है। जगत् भी ब्रह्म से अन्य प्रतीत होता है, है कुछ नहीं, प्रतीति-दशा में ही इसे मिथ्या कहा जाता है। वस्तुदृष्ट्या है ही नहीं। आचार्य सर्वज्ञात्म ने बताया है—

'कृपणधीः परिणामम् उदीक्षते विगतकल्मषधीस्तु विवर्त्तताम्।
स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते व्यपगतद्वितयं परमं पदम्॥'

ज़िसकी बुद्धि 'कार्पण्यदोष' से उपहत है, विवेकपूर्ण विचार में असमर्थ है, वह जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानता है। कंजूस भी कृपण कहलाता है, वह हाथ से कुछ जाने नहीं देना चाहता अतः जगत् को परिणाम सोचकर आशा करता है कि यह ब्रह्म के तुल्यसत्ताक होगा! नाम-रूप के प्रति लोभ, आसक्तिवश ही उसके असत्यत्व को न देख उसे पारमार्थिक मानना कृपणता का परिचय है। ऐसा व्यक्ति संसारविमुख होकर परमात्मप्राप्ति का प्रयास ही न करने से तत्त्वसाक्षात्कार के बिना यहाँ से प्रयाण करता है इसलिये बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ने भी उसे कृपण कहा। नाम-रूप के लोभ से, असत्य के लोभ से सत्य परमात्मा से वंचित रहना जैसी मूर्खता हमसे हो रही है। नाम-रूपादि जगत् का धर्म में विनियोग करें यह उत्तम है, भोग में उपयोग सांसारिक चातुर्य है किन्तु वास्तविक कौशल इसे मिथ्या जानकर परमात्मभाव में स्थिति ही है। जब कृपणता दोष हटे तब इसे मिथ्या जानें, यह विवर्त स्वीकार हो। तभी वास्तविक उपरतिपूर्वक आत्मानुसन्धान प्रारम्भ होगा जिससे अद्वितीय आत्मतत्त्व अवगत होगा। ब्रह्मातिरिक्त कुछ भासे ही नहीं यही पूर्ण परिपाक है॥६३॥

उक्त परिपक्व ज्ञानवान् या ऐसे ध्यान में निष्ठा पाये का अनुभव बताते हैं—

दृश्यते श्रूयते यद्यद् ब्रह्मणोऽन्यद् न तद् भवेत्।
तत्त्वज्ञानाच्च तद् ब्रह्म सच्चिदानन्दम् अद्वयम्॥६४॥

जो कुछ भी दीखता-सुनाई देता है वह ब्रह्म से अन्य नहीं है क्योंकि तत्त्वज्ञान से निश्चित है कि वह सब अद्वय सच्चिदानन्द ब्रह्म है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जब तक वस्तुस्थिति मालूम नहीं, सच्चाई देखने का अभ्यास नहीं, तब तक नाम-रूप ही दीखते-सुनाई देते हैं जो ब्रह्म से, व्यापक चेतन से अन्य समझे जाते हैं। जब या तो तत्त्वबोध पा लिया, या ध्यानाभ्यास से उसे देखने की कला विकसित कर ली तब मूल प्रमाण के बल पर मालूम रहता है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म अद्वितीय होने से जो भी नाम-रूपादि 'द्वितीय' के रूप में दीखता है यह वस्तुतः ब्रह्म ही है, उससे अन्य कुछ नहीं। जैसे कुम्हार के पास जो भी मिलता है सब मिट्टी है वैसे संसार में जो भी मिले ब्रह्म ही है। 'अन्य नहीं है' से स्पष्ट है कि वस्तुदृष्ट्या असत् है, प्रतीतिदृष्टि से मिथ्या है। परमार्थतः एक ब्रह्म ही है। अधिष्ठान-सत्यता का निश्चय रहते अध्यस्त तदतिरिक्त तो नहीं ही प्रतीत होता। 'तत्त्वज्ञान से' का यह भाव नहीं कि उसके बिना ऐसा नहीं! जानें-न जानें, है तो अद्वैत ब्रह्म ही, तत्त्वज्ञान इसे उद्घाटित करता है यही भाव है।।६४।।

वस्तुस्थिति भी ग्रहण करने के लिये योग्यता आवश्यकता है यह समझाते हैं—

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ।।६५।।

सर्वव्यापक सच्चिद् आत्मा को वही निरीक्षण करता है जिसके पास ज्ञानरूप चक्षु है। जो अज्ञान की आँखों का प्रयोग करता रहता है वह उस तत्त्व को नहीं देख पाता जैसे अन्धा चमकते सूर्य को नहीं देख पाता।

जीवभाव रखकर अज्ञान-नेत्रों से देखने पर परिच्छिन्न नाम-रूपात्मक जगत् ही दीख सकता है, ज्ञान-नेत्र से दीखने वाली वस्तु का कोई भान तब सम्भव नहीं। ज्ञाननेत्र से देखें तो अज्ञाननेत्र से दीखता भेद प्रतीत न हो! परमात्मध्यान से परमेश्वर को देख सकने वाली आँख खुलती है। अर्जुन ने प्रार्थना कर भगवान् पर निर्णय छोड़ा कि आप मुझे देखने लायक समझें तो अपना दिव्यरूप दिखा दें। योग्यता न हो तो दीखना सम्भव नहीं। जीवभाव पाले रखें और व्यापक सच्चिदानन्द का अनुभव बना रहे यह नहीं हो सकता। हम सब पापों के मूलभूत पाप में संलग्न हैं 'किन्तेन न कृतं पापम्' आदि द्वारा कहा है कि जो अपने आप को अद्वितीय व्यापक तत्त्व न जानकर परिच्छिन्न सद्वितीय जानता है उसने सभी पाप कर लिये। अपने वास्तविक स्वरूप को मानो धक्का देकर दूर करने का प्रयास ही यह बड़ा पाप है। जो वास्तव में 'मैं' है उसी को हम कहते हैं 'तू मैं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं है'! लोक में जो साझीदार है उसका लाभादि में बराबरी का हक है, अगर उससे कहो 'तू साझीदार नहीं, दो-चार सौ चाहिये तो ले ले' तो दगाबाज माने जाओगे। इसी प्रकार परमात्मा है तो मेरा स्वरूप पर हम गन्ध-अक्षत से ही उसे टरकाते रहते हैं, 'मैं' पर खुद ही काबिज बन बैठते हैं। परमात्मा को अपने से भिन्न मानना सबसे बड़ा पाप है। आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र आत्मार्पण स्तुति में (श्लो २८) कहते हैं—

'पापिष्ठोऽहं विषयचपलः सन्ततद्रोहशाली
कार्पण्यैक-स्थिरनिवसतिः पुण्यगन्धाऽनभिज्ञः ।
यद्यप्येवं तदपि शरणं त्वत्पदाब्जं प्रपन्नं
नैनं दीनं स्मरहर तवोपेक्षितुं नाथ! युक्तम् ।।'

मैं अत्यधिक पापकर्मा हूँ! निरन्तर एक के बाद दूसरा विषय चाहता हूँ। भगवान् से भी विषय ही माँगते हैं, वे भी मनलायक हों, यह माँगते हैं। जो भगवान् ने दिया उससे कभी सन्तोष नहीं कर पाते। मुझे मिले, क्या मिले, कितना मिले, कैसा मिले, कब मिले, किससे मिले सभी कुछ हम अपने अनुसार चाहते हैं। परमात्मा के विरोध में लगातार द्रोह-भाव रखते हैं कि उसने मेरे लिये जो किया वह ठीक नहीं। स्वभाव इतना कृपणता-प्रधान है कि लेते समय संतोष ही नहीं, देने का नाम नहीं लेता। किसी के लिये थोड़ा भी किया तो कहते-समझते हैं कि बहुत कर दिया! खुद जिसे पैदा किया उसे भी सुनाते हैं 'मैंने तेरे लिये क्या-क्या नहीं किया!' अपने पुत्र के लिये नहीं करना होता तो पैदा क्यों करते? ऐसी कृपणता के साथ पुण्य की गंध भी मुझमें है नहीं। आपकी दी अज्ञानचक्षु का ही प्रताप कि ऐसा बना हूँ फिर भी आपकी शरण हूँ। ईस प्रवृत्ति से थक गया। आप ही ज्ञानचक्षु भी खोलेंगे, अब मेरी और उपेक्षा मत करें। आप ही 'स्मरहर' कामनान्तक हैं, आपका स्वभाव कामना का हरण करना है। बिना कामना के पाप नहीं होगा। झूठ बोलना, घूस देना आदि पापमात्र का सदा कारण कामना ही होती है। अहिंसा, सत्य आदि पुण्य सहजतः होते हैं। पाप प्रेरक होने से ही शिव ने कामदेव जलाया था। श्रुति ने तो कहा है कि जब हृदयस्थ सारी कामनाएँ निवृत्त हो जायें तो जीव अमरणधर्मा हो जाये! इसे आप ही हैं जो सम्भव करेंगे। आप अपनी कीर्त्ति न बिगड़ने दें, स्मरहर हैं तो स्मरहरण करें। आपकी प्रपत्ति, शरणागति से ही ज्ञानचक्षु खुलती है जो मोक्ष का एकमात्र उपाय है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सृष्टि के लिये ब्रह्माजी यज्ञ करने लगे, सोचा, तत्तन्मन्त्रों के देवता तो मालूम हैं, सारे वेदों के कौन देवता हैं, कौन प्रतिपाद्य हैं? ब्रह्माजी के संकल्प से ऋग्वेद आया, कहा (शिवपु.शतरु. ८.२५-२८)—

'यदन्तःस्थानि भूतानि यतः सर्वं प्रवर्त्तते।
यदाहुः परमं तत्त्वं स रुद्रस्त्वेक एव हि॥'

वेदप्रतिपाद्य वही है जिसमें सभी भूत रहते हैं, जिससे सारी प्रवृत्तियाँ हैं वह एक रुद्र ही परम तत्त्व है। ज्ञान ही वह तत्त्व है जिसमें सभी समाया हुआ है, तदतिरिक्त कुछ है नहीं।

यजुर्वेद बोला—

'यो यज्ञैरखिलैरीशो योगेन च समिज्यते।
येन प्रमाणं खलु नः स एकः सर्वदृक् छिवः॥'

मेरा और वेदमात्र का प्रतिपाद्य वह सर्वज्ञ ईश शिव है जो सारे यज्ञों से एवं योगाभ्यास से अर्चित है, जिससे हम वेद भी प्रमाण रहते हैं। जैसे नौकर करे चाहे जो, सब है मालिक की ही सेवा वैसे सब शास्त्रीय कर्म ईश्वरार्चना हैं। हृदय में बैठे साक्षी ईश्वर की प्रसन्नता के लिये सकल कर्म हैं। इसीलिये पूजा कोई 'बोझ' नहीं बनती।

सामवेद ने घोषणा की—

'येनेदम्भ्राम्यते विश्वं योगिभिर्यो विचिन्त्यते।
यद्भासा भासते विश्वं स एकस्त्र्यम्बकः परः॥'

इस विश्वचक्र का संचालक जो योगियों द्वारा ध्येय है, जिसके भासमान स्वरूप से विश्व का अवभास होता है वह एक त्र्यम्बक ही परमतत्त्व है, हमारा प्रतिपाद्य है। आकाशादि का कारण होने से वह इनसे भी सूक्ष्म, व्यापक है। सारी सृष्टि चलाते हुए भी वह श्रान्त नहीं होता। भक्त भी परमात्मा की शरण लेता है तो अपने कर्त्तव्यादि कोई बोझ नहीं महसूस करता। विश्व को परमेश्वर 'घुमा' रहा है, अज्ञ को यह भटकाने वाला चक्र लगता है, जानकार के लिये 'ब्रह्मचक्र' ब्रह्मानन्दानुभूति का स्थल है। सारा विश्व उसी से अवभासित है अतः प्रत्येक अनुभव में दोनों हैं, दोनों दशाओं में प्रकाशमान वही एक है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अथर्ववेद ने बताया—

'यं प्रपश्यन्ति देवेशं भक्त्यनुग्रहिणो जनाः ।
तमाहुरेकं कैवल्यं शंकरं दुःखतः परम् ।।'

भक्ति से अनुगृहीत लोग जिस देवेश्वर का दर्शन पाते हैं, दुःख से परे वह कैवल्यरूप एक शंकर ही मेरा प्रतिपाद्य परतत्त्व है। वही सब दुःख दूर करता है क्योंकि दुःख से परे है। खुद दुःखग्रस्त हो तो उसे कैसे मिटाये! जो मन का साक्षी वही सर्वत्र व्यापक सत्तत्त्व है।

समग्र वेदों से आहुति समर्पण करने पर भगवान् शंकर की नटराजमूर्ति प्रकट हुई जो चिदम्बरम् में स्थापित है। व्याघ्रपाद व पतंजलि वहाँ नित्य तपोरत रहे, उनकी प्रार्थना से भगवान् वहाँ स्थिर हैं। काशी का राजा दिवोदास उन्हें काशी लाने की इच्छा से चिदम्बर जाकर तपस्या करने लगा। भगवान् ने प्रसन्न हो वर माँगने को कहा। उसने निवेदन किया 'आप काशी चलकर स्थापित हों।' भगवान् ने कहा 'वहाँ मैं विश्वनाथ-रूप में हूँ ही। सारे प्राणी मेरा दर्शन पाते हैं। वहाँ स्पर्शास्पर्श का दोष नहीं, मैं स्वयं रोज़ मणिकर्णिका नहाकर विश्वनाथलिंग-पूजन द्वारा सारे दोष दूर कर देता हूँ। वहाँ पशु-पक्षी भी नहीं रोके जाते क्योंकि वहाँ मैं 'नरनाथ' नहीं, विश्वनाथ हूँ। अतः इस विग्रह को वहाँ क्यों ले जाना? मुझे व्याघ्रपाद व पतंजलि ने यहाँ बाँधे भी रखा है अतः यहीं रहना ठीक है।' राजा ने कहा चारों वेदों और ब्रह्मा जी द्वारा पूज्य आप के इसी विग्रह को वहाँ ले जाने की इच्छा है।' भगवान् ने कहा 'ठीक है, एक शर्त है, कभी मुझसे, मेरे भक्तों से दुर्भाव किया तो वहाँ नहीं रहूँगा।' भगवदाज्ञा से वैदिक ब्राह्मणों ने मूर्ति काशी पहुँचायी। भगवान् गये तो सही पर पतंजलि-व्याघ्रपाद याद आते रहे! वे भी चिदम्बर में नित्य स्मरण करते थे। भगवान् बार-बार लौटने की सोचते थे। राजा ने अतिकीमती गहनों से भगवान् की सजावट की, पहरेदार रखे। एक शिवभक्त आया, उसे प्रसाद में भगवान् ने एक बहुमूल्य हीरा दे दिया! बिल्वपत्रादि के बीच हीरा भी था जो उसे पत्रादि सहित प्रसाद में मिल गया। भक्तों के रहने-खाने के लिये राजा की ओर से व्यवस्था थी, वह भक्त वहीं ठहरा था। शाम को हीरा न मिला तो ढूँढते हुए उसके पास पहुँचे, उसके प्रसाद को ढूँढने लगे। वहाँ बिल्वपत्रादि में छिपा हीरा मिल गया! उन्होंने राजा से कहा कि चोर मिल गया। उसे दण्डस्वरूप गरम बालू में पीठ पर वजन लादकर खड़ा कर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दिया। भगवान् ने राजा से कहा 'तूने उससे पूछा तक नहीं कि उसके पास हीरा क्यों, कैसे आया, यों ही दण्ड दे दिया! यह मेरा व मेरे भक्त का अपमान है, मैं वापिस जाऊँगा। जब न्याय ठीक न करो तो राजा किस बात के!' राजा घबरा गया, उससे ग़लती हो चुकी थी। अज्ञान-चक्षु रहते अविचार स्वाभाविक है। ज्ञानचक्षु की दृष्टि में सुख-दुःख-हानि-लाभ आदि समान हैं पर अज्ञानचक्षु की दृष्टि में सुख-लाभ के प्रति पक्षपात और दुःख-हानि के विरुद्ध भाव अवश्य होगा। ज्ञानदृष्टि तो एक ही अंतःकरण की विभिन्न वृत्तियों के रूप में सब को देख लेती है जैसे सुनार टेढे-मेढे सब तरह के गहनों में सोना देख लेता है। अज्ञानदृष्टि को सुख देखने का आग्रह रहता है। राजा ने विचार के बिना उसे दण्डित किया था क्योंकि हीरा जाना उसे अनिष्ट था। उधर, व्याघ्रपाद को स्वप्न हुआ कि काशी जाकर भगवद्विग्रह चिदम्बरम् लौटा ले जाये।

हृदयरूप दहराकाश में चैतन्यरूप परमात्मा चिदम्बर है। उसे समझने के लिये उपाधियों द्वारा हृदय से बाहर किया जाता है। यही चिदम्बर का काशी आना है। सत्य-ज्ञान-आनन्द आदि स्वरूपों का परिचय बाह्य जगत् से होता है, इसीलिये परमेश्वर की विश्वाकार में उपस्थिति है, प्रपंच का आरोप है। पर यहाँ रहना उन्हें पसंद नहीं! उनका अपना स्थान तो प्रत्यग्भाव ही है, त्वम्पदलक्ष्य ही है। विचार के लिये बाहर भले ही आये हैं पर लौटना भीतर ही है। अज्ञानचक्षु रहते द्वैतबुद्धि होगी, विचार से ज्ञानदृष्टि मिलने पर अद्वैत ही भासता है। जैसे अंधा कल्पना नहीं कर सकता चमकते सूर्य की वैसे अज्ञानचक्षु रहते अद्वैत समझ नहीं आता, विचार से ज्ञानदृष्टि मिलने पर वही भान रहता है, द्वैत सर्वथा निवृत्त हो जाता है।।६५।।

[*इससे आगे ग्रंथान्त-पर्यन्त महाराजश्री के प्रवचनों का हस्तलिखित संकेत अनुपलब्ध है।*]

पूर्वोक्त सन्दर्भ स्पष्ट करता है कि अनुभव-सम्पन्न भी साधक अभ्यास से वासनाक्षय न करे तो कुछ अज्ञान बचा रहता है जैसे दिवोदास भगवान् को पाकर भी असावधानीवश खो बैठा। अतः आचार्य फिर-फिर श्रवणादि की कर्त्तव्यता प्रकट करते हैं—

श्रवणादिभिरुद्दीप्तो ज्ञानाग्निपरितापितः ।
जीवः सर्वमलान्मुक्तः स्वर्णवद् दृश्यते स्वयम् ।।६६।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैसे आग से तपाया सोना अपने गहने-रूप को छोड़कर स्वर्णरूप से ही चमकता है वैसे साभास अहंकार-रूप जीव श्रवणादि से प्रकाशित हो एवं ज्ञान-रूप अग्नि से शोधित हो समूचे अज्ञानरूप मल से छूटकर स्वयमेव भासमान रहता है।

आत्मा के स्वरूप के प्रति एवं अध्यात्मोपाधि समेत जगत्के मिथ्यात्व के प्रति लगातार सावधानी का उपाय शमादिपूर्वक श्रवणादि ही हैं क्योंकि प्रमाण-प्रमेयविषयक संशय दूर होते रहते हैं तो निश्चयवृत्ति पुष्ट होती जाती है जिससे ग़लती से भी विपरीत प्रतीति को यथार्थ नहीं माना जाता। जिसे पहाड़े समझे-बूझे-अभ्यस्त वह गलती से भी जैसे सदोष गुणन नहीं स्वीकारता वैसे आत्मा में कर्तृत्व और संसार में सत्यत्वादि भासे तो तुरन्त वह उसे निरस्त कर देता है, ग्रहण करता ही नहीं। विवेक द्वारा त्वम्पद के अर्थ के सही शोधन के बिना तो श्रवण से बोध ही सम्भव नहीं, वह अभेदबोध परिच्छिन्नतारूप मल भी दूर कर देता है तो प्रत्यक् तत्त्व ही व्यापकरूप से भासने लगता है। उपाधिरूप मल तो विवेक से हट चुकने चाहिये तब केवल परिच्छिन्नत्व, सद्वयत्व का मल रह जाता है जिसे वाक्यार्थ-ज्ञानरूप अग्नि दूर करती है। इसी अग्नि को तेज प्रज्वलित करने के लिये श्रवणादि का अभ्यास अपेक्षित है जैसे धौंकनी से चूल्हे में आग चेतायी जाती है। जितनी आग तेज होती है उतना जीव उद्दीप्त, चमकदार बनता है फिर पिघलता जाता है। जीव में ब्रह्मातिरिक्त जो भाग वह गलने पर हटने-मात्र से स्वयम्-मात्र पूर्ण आत्मा रह जाता है जो मुक्तावस्था है।।६६।।

इस ढंग से शोधित हुआ जीव परमात्मा ही है, वह अज्ञान का उपसंहार कर सूर्य-सा देदीप्यमान रहता है यह बताते हुए उपसंहार करते हैं—

हृदाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानुस्तमोपहृत्।
सर्वव्यापी सर्वधारी भाति सर्वं प्रकाशते।।६७।।

हृदय-गुफा में उगा आत्मरूप ज्ञानसूर्य अज्ञान का अपनोदन कर देता है, आकाश जैसा सर्वव्यापक और सबको धारण करने वाला भासमान रहता है एवं 'सब कुछ मैं ब्रह्म हूँ' यों प्रकाशमान होता है।

तत्त्वज्ञान हृदयगुफा अर्थात् बुद्धि में 'उगता' है। जो सनातन सूर्य वही दृग्गोचर हो तो 'उगा' कहलाता है, रोज अभिनव जन्म उसका नहीं; इसी प्रकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आवरणहीन ज्ञानरूप आत्मा सदा ऐसा ही है, जब योग्य अन्त:करण में अखण्डाकार प्रमावृत्ति का वह गोचर होता है तब 'उगा' कहलाता है। सूर्य की तरह इस बोध का उदय-अस्त व्यवहारमात्र है, वस्तुत: वह निर्विकार एकरस है। अतएव बोधभानु, ज्ञानसूर्य को 'आत्मा' कहा क्योंकि सदा उपस्थित एक वही तत्त्व है। तत्त्वसाक्षात्कार आत्मरूप ही है, वृत्ति तो अविद्याहानि सम्भव करने मात्र में उपयुक्त है। अत: अहंकार के समूल उच्छेद के लिये ही शास्त्रीय ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान चाहिये, वृत्ति को बाद में रहना भी नहीं, उसका उपयोग भी नहीं। सर्वत्र तत्त्वज्ञान यही करता है कि तत्त्व के अज्ञान को दूर करे, यदि अज्ञानवश भ्रम था तो उसे भी दूर करे, उन्हें दूर करने से कृतकार्य हुआ ज्ञान इसीलिये स्थायी समझा जाता है कि अज्ञान-तत्कार्य होते नहीं अर्थात् यदि ज्ञान होता तो जो नतीजा निकलता वह जब लगातार है तब ज्ञान भी है ही समझा जायेगा। किन्तु वृत्तिरूप से उसका रहना निरर्थक और अमान्य है। इसलिये वह आत्मरूप से ही रहता है। इसी दृष्टि से अविद्यानिवृत्ति भी आत्मरूप से ही रहती है ऐसा कहा जाता है। बोधभानु तम का अपहरण करता है अर्थात् उपसंहार करता है। क्योंकि आत्मा 'का' ही अज्ञान है इसलिये मानो उसने इसे 'फैला' रखा है; जैसा कि धर्मराज अध्वरीन्द्र ने कहा कि 'उसकी अविद्या के विलास से भूत-भौतिक सृष्टि होती है'; या कारण से कार्य की उत्पत्ति को बादरायण आचार्य ने 'पटवच्च' (१.२.१९) से समझाया है जिसका भाष्य में संग्रह है 'संवेष्टित-प्रसारितपट न्यायेनैव कारणात् कार्यम् इत्यर्थ:'; अत: जब फैलाव की अनुकूलता नहीं तब वही इसे 'लपेट' लेता है जिसे उपसंहार कहते हैं। वस्तुभूत अविद्या होती तो इसका 'संहार' होता, अवस्तु है तो इसका 'उप-संहार' (संहार-जैसा) ही हो भी सकता है। यह ज्ञानसूर्य उगे भले ही हृदयाकाश में पर है सर्वव्यापक जैसे उदयाचल पर उगने पर भी सूर्य सारे आसमान में फैला रहता है। घटत्व-ज्ञान का 'उदय' एक घट में होने पर भी पता व्यापक ही घटत्व का लगता है यह सर्वानुभवसिद्ध है ही, इसी प्रकार पता भले ही बुद्धिसाक्षी में लगे पर लगता व्यापक ही आत्मा का है। क्योंकि जो सच्चिदानन्दप्रत्यक् अभी मालूम हैं वे उस बोध में भी रहते हैं इसलिये वह आधारांश है, उसी ने सबको धारण किया रखा यह स्वीकार होने से आत्मा सर्वधारी पता चलता है। ब्रह्म का मैं-में साक्षात्कार होने पर सब कुछ वही मैं हूँ यह अर्थसिद्ध निर्णय हो जाता है यद्यपि 'मैं' का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थ तब देह-मन से परिच्छिन्न नहीं होता, उससे उपलक्षित होता है। अशुभ नाम-रूप-कर्म उस उद्घाटित उद्दीप्त ज्वाला में द्रवित हो जाते हैं, गहनों की तरह, सोने में पिघल जाते हैं, इसलिये उस ज्ञानात्मा को 'रुद्र' कहा गया है। उसी के स्मरण में ग्रन्थ पूरा हो रहा है।।६७।।

विद्वान् का वर्णन, तत्त्व और उसकी प्राप्ति के साधन सूचित करते हुए परमार्थज्ञान का साफल्य बताते हैं—

दिग्देशकालाद्यनवेक्ष्य सर्वगं
शीतादिहृन्नित्यसुखं निरञ्जनम् ।
यः स्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रियः
स सर्ववित् सर्वगतोऽमृतो भवेत् ।।६८।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्य-विरचित आत्मबोधः ।।

दिक्, देश, काल आदि की ओर बगैर दृष्टि डाले जो सर्वव्यापक है, ठण्ड आदि लगने से होते दुःख मिटाने व सनातन सुख देने वाला है, निर्दोष है उस स्वात्मा-रूप तीर्थ का जो सर्वकर्मसंन्यासी सेवन करता है वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, अमृत होता है।

परमार्थ निजात्मा सर्वोत्तम तीर्थ है। अन्य तीर्थ दिशा व स्थान से सीमित हैं, उनके सेवन के काल निर्धारित हैं, छोटी जगह ही होते हैं। स्वात्मा दिशा-सीमित नहीं जैसे उत्तरकाशी-दक्षिण काशी, उत्तर कैलास-दक्षिण कैलास आदि हैं। न वह देश (स्थान) से सीमित जैसे वरुणा-असी-गंगा के बीच ही काशी है। न उसके लिये काल की इन्तजार है जैसे कुरुक्षेत्र आदि में सूर्य-ग्रहण का वैशिष्ट्य होता है। अतः स्वात्मतीर्थ के सेवन के लिये भी इनकी ओर नहीं देखना पड़ता, तत्काल निरन्तर सेवन सम्भव है। अन्य तीर्थों में नहाने आदि से ठण्ड लगती है या तप्तकुण्ड आदि में गर्मी लगती है पर स्वात्मतीर्थ इन सारी परेशानियों को मिटाने वाला है। लौकिक तीर्थों में तात्कालिक सन्तुष्टि का ही सुख हो पाता है, स्वात्मतीर्थ में सनातन सुख मिलता है। वह सुख भी पारमार्थिक होता है। तीर्थान्तर में गन्दगी, धक्का-मुक्की, ठगी आदि दोष हैं जबकि स्वात्मतीर्थ इन सबसे रहित है। अन्य तीर्थों तक पहुँचने में सक्रिय व्यक्ति ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समर्थ होता है जो नियमतः यात्रादि करे, वहाँ भी पूजनादि करे, जबकि स्वात्मतीर्थ का सेवन 'विनिष्क्रिय' ही कर सकता है, वही परमहंस कर सकता है जिसने विवेक से अपनी क्रियारहितता निश्चित कर ली है अतः सर्वकर्म छोड़ चुका है। अन्य तीर्थों के सेवन से उन्हीं का, उन्हीं के महत्त्व का ज्ञान होगा, आत्मतीर्थ के सेवन से कुछ अज्ञात नहीं रह जाता है। बाकी तीर्थों में जाने-रहने आदि पर भी मरना पड़ता ही है, आत्मतीर्थ का सेवन अमरता प्रदान करता हैं, मरने से परे पहुँच जाते हैं। इसलिये स्वात्मतीर्थ में जो निरत है वही कृतकृत्य धन्य होता है। तीर्थ के सेवन के ढंग बताये जाते हैं, आत्मतीर्थ के सेवन के ढंग हैं शमादिपूर्वक श्रवणादि से विज्ञान में स्थिति। इस तरीके से किया आत्मतीर्थ-सेवन अवश्य सफल होता है।।६८।।

इस प्रकार इस संक्षिप्त प्रकरण में भगवान् भाष्यकार ने वेदान्तसिद्धान्त के साक्षात्कार के लिये आवश्यक सभी साधन समझा दिये हैं जिनका तत्परता से अनुष्ठान कर मुमुक्षु आत्मकल्याण का भागी होता है।

आत्मबोध-ग्रन्थ पूरा हुआ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection